श्रामण्य नवनीत

-मुनि श्री जयानंदविजय

॥ श्री विमलनाथाय नमः ॥

॥ प्रभु श्री राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

श्रामण्य नवनीत

(पंचसूत्रम्, गुरुबहुमान, हितशिक्षा)

: संपादक :

मुनि श्री जयानंदविजय

पुस्तक का नाम : श्रामण्य नवनीत

संपादक : मुनि श्री जयानंदविजय

द्रव्य सहायक :

श्री विमलनाथादि जिनबिंब अंजनशलाका प्रतिष्ठा प्रसंगे
माघ वद ३० शनिवार १/२/२००३ के दिन
नौकारशी के निमित्त एवं
शा हस्तीमलजी, फौरीबाई एवं टीनाकुमारी के उपधान निमित्ते एवं
मुनिराज श्री जयानंदविजयजी आदि एवं
शासन दीपिका प्रवर्तीनी विदुषी साध्वीजी श्री मुक्तिश्री आदि ठाणा की निश्रा में
टीनाकुमारी हस्तीमलजी की भागवती प्रवज्या
फागण वद ६ शनिवार २२/२/२००३ के दिन हुई
उस निमित्ते यह पुष्प प्रकाशन

हस्ते शाह हस्तीमल, लखमीचंद, कीरणकुमार, प्रकाशकुमार, कीशोरकुमार,
उत्सवकुमार बेटा पोता भलेचंदजी नागोत्रा सोलंकी परिवार बाकरा

फर्म : मुक्ति मार्केटिंग
५३०/डी, एम.के.एन रोड,
अलनदुर, चेन्नई - ६०००१६

प्रत : 1000

प्रकाशक : श्री गुरू रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल

संचालक :
(१) सुमेरमल केवलचंदजी नाहर, भीनमाल, राज.
(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, राज.
(३) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेतीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज.
(४) शा हस्तीमल लखमीचंद भलाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार, बाकरा, राज.

प्राप्ति स्थान :
(१) शा देवीचंदजी छगनलालजी, सदर बजार, भीनमाल, राज. ३४३ ०२९
(२) श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी, साँथू, राज. ३४३ ०२६
(३) शा नागालाल वजाजी खींवसरा, गोपीपूरा, काजी का मैदान,
शांतिविला अेपार्टमेन्ट, सूरत, गुजरात
(४) महाविदेह भीनमाल धाम, शत्रुंजय पार्क के सामने, पालीताना (सौराष्ट्र)

प्रस्तावना

आज हमें मोक्ष के क्रमिक भव्य साधनामार्ग का अप्रतिम प्रतिपादन करने वाला 'श्री पंचसूत्र' महाशास्त्र हिन्दी के अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ देख अपूर्व आनन्द होता है। शायद हिन्दी अनुवाद का यह प्रथम ही प्रकाशन है।

इस महाशास्त्र के निर्माण का हेतु उदात्त एवं गम्भीर है। यह संसार जन्म-जरा-मृत्यु, रोग-शोक-संताप, इष्ट वियोग-अनिष्ट-संयोगादि महादुःखों से भरा हुआ है। इसमें जीव अनादि काल से सूक्ष्म निगोद (सूक्ष्म अनंतकाय वनस्पतिशरीर) में भटकता हुआ अनंत पुद्‌गलपरावर्त काल तक अनंत दुःख का वेदन करने के बाद भवितव्यतावश बादर निगोद, एवं पृथ्वीकायादि योनि के व्यवहार में आता है। कई काल तक अकाम कर्म-निर्जरा के द्वारा कर्म से हलका होकर पंचेन्द्रियपना पाकर भी मोहवश दुष्कृत्य करके नीचे गिरता है। यों पतन-उत्थान में अनंतकाल बीतने पर और अनंत पुण्यराशि बढ़ने पर दश दृष्टान्तानुसार दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त होता है। फिर भी कुकर्म करने से वहां से गिरने पर अधम योनियों में कई काल भटकना पड़ता है। पुनः मानवभव, पुनः पतन ऐसे करते करते कदाचित् अनन्त-अनन्तादि पुण्यराशि के बल पर जीव को मानवभव, आर्यक्षेत्र, आर्यकुल, आरोग्य आदि सद्धर्म की सामग्री प्राप्त होती है।

अब पुनः अधःपतन से बचने के लिए त्रिलोकबन्धु जगदुद्धारक श्री अरिहंत परमात्मा की आज्ञा की उपासना करनी चाहिए। इस आज्ञा के कई शास्त्र हैं, इनमें से प्रस्तुत पंच सूत्र शास्त्र सरल रूप से मोक्षमार्ग की व्यवस्थित व सक्रिय **(Concrete)** साधना की राह दिखलाता है। यों तो जिनाज्ञानुसार, हिंसादि पापों के सर्वथा त्रिविध त्रिविध त्याग स्वरूप सर्वविरति (निष्पाप साधु जीवन) मोक्ष का बिलकुल सीधा रास्ता है, और सम्यक्त्वमूलक द्वादशव्रत स्वरूप देशविरति (श्रावकजीवन) जीव को समर्थ बनाकर सर्वविरति के स्वीकार एवं पालन द्वारा मोक्ष प्रदान करने वाला कुछ टेढ़ा रास्ता है, एवं उनके प्रतिपादन करने वाले कई शास्त्र हैं, फिर भी यह 'पंचसूत्र' शास्त्र इस मोक्षमार्ग का ऐसे अनोखे ढंग से प्रतिपादन करता है कि मानो शास्त्र पढ़ते ही तुरन्त उसे जीवन में उतारने का उल्लास हो जाए। विषय की भव्यता के साथ साथ यह ग्रन्थ बालगम्य, प्रौढ़, मनोरम, प्रवाहशील काव्य भाषा, श्रेष्ठ योगग्रन्थरूपता, उपाधिसंतप्त को निस्सीम शांति का पथप्रदर्शन एवं संक्षिप्त नित्यस्वाध्यायोपयोगिता इत्यादि विशेषताओं से भरपूर है।

सुकोमल मधुमधुर प्राकृत भाषा में संदृब्ध यह श्री पंचसूत्र महाशास्त्र

अज्ञातकर्तृक है, किसी प्राचीन आचार्य भगवान से विरचित होने के कारण चिरंतनाचार्य रचित कहा जाता है। फिर भी महान शास्त्रसूत्रधार आचार्य पुरंदर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज के द्वारा इस पर संक्षिप्त विवेचना लिखी गयी है, इससे सिद्ध होता है कि यह महाशास्त्र पूर्वकालीन आचार्य का है, यह प्राचीन काल बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' के अन्तर्गत 'पूर्व' नामक आगम का काल था, और इस शास्त्र की भाषा भी पूर्वधर की भाषा सी प्रतीत होती है। इसलिए यह एक पूर्वधर महर्षि की कृति रुप में श्रद्धेय है।

प्रस्तुत महाशास्त्र के पांचों सूत्रों के विषय इस प्रकार हैं :-

(१) अनादिकाल से इस अपार संसार सागर में कर्म के संयोगवश चतुर्गति में भटकते हुए पामर संसारी जीव का तथाभव्यत्व अर्थात अपनी वैयक्तिक मोक्षयोग्यता जब पक्ती है तभी जीव मोक्ष को पा सकता है। इसे पकाने के क्या क्या प्राथमिक उपाय हैं और वे कैसे प्रयत्न गोचर बनाए जाएँ? इसका प्रतिपादन प्रथमसूत्र में है। इस सूत्र का नाम है 'पापप्रतिघात-गुणबीजाधान' सूत्र। इसमें चतुःशरणगमन, दुष्कृतगर्हा एवं सुकृतानुमोदन ये तीन उपाय वर्णित हैं।

(२) गुणबीजाधान सम्पन्न होने के बाद क्या करना? यह द्वितीय सूत्र का प्रतिपाद्य है। इसमें स्थूल अहिंसादि पांच गुणों की महिमा और पालनविधि, कल्याण-अकल्याणमित्र, लोकविरुद्ध कार्य, जनकरुणापरता, उचित आचार-अनुष्ठान, इनके पालन के समय में स्मरण में रखने योग्य बातें, धर्म जागरिका, कल्याणभावना इत्यादि का वर्णन है। दूसरे सूत्र का नाम है 'साधुधर्म-परिभावना'।

(३) 'प्रव्रज्याग्रहणविधि' नामक तृतीय सूत्र में साधु धर्म की परिभावना से भावित होने के अनन्तर किसी को परिताप न पहुँचाते हुए की जानेवाली साधुधर्म-ग्रहणार्थविधि, माता-पिता को मुमुक्षु की समझौती, मोक्ष और संसार का अन्तर, अनन्य गत्या अटवीग्लानौषधार्थत्याग के दृष्टान्त से किया जाता माता-पिता का त्याग भी अत्याग, एवं लोकोत्तरधर्म-प्रवेश विधि का प्रतिपादन है।

(४) 'प्रव्रज्यापरिपालना' नामक चतुर्थ सूत्र में प्रव्रजित के कर्त्तव्य, समभाव, गुरुकुलवास, विधिपूर्वक सूत्राध्ययन, विधि अविधि से गृहीत मंत्र के दृष्टान्तानुसार आराधना-विराधना के फल, सूत्रोक्तपालन, अष्ट प्रवचनमाता, द्विविध परिज्ञा, आश्वास-प्रकाश दीप-द्वीप के दृष्टान्त से उद्यम, महाव्याधिचिकित्सा के दृष्टान्तानुसार परीषह-उपसर्ग में अव्यथित होते हुए प्रमादत्याग, असार-शुद्धभोजन, तत्त्वसंवेदन, कुशलाशयवृद्धि, चित्तप्रशमसुखवृद्धि, गुरुबहुमान, गुरुबहुमान से रहित की क्रिया कुलटा नारी के उपवासादि तुल्य, लोकसंज्ञा एवं

इन्द्रिय-अनुश्रोतगमन का त्याग, दम्भ का त्याग, फलतः असंक्लिष्ट संपत्ति, निरनुबन्ध अशुभकर्म, सानुबन्ध क्रिया, समंतभद्रता, परार्थ साधकता, अनेक भविक आराधनावश चरम भव, सर्वकर्मक्षय इत्यादि प्रतिपादित हैं।

(५) 'प्रव्रज्या-फल' नामक पंचम सूत्र में मोक्ष का विशिष्ट स्वरूप वर्णित किया गया है। साथ साथ सांयोगिक सुख की दुःखरूपता, असांयोगिक सुख की बुद्धिगम्यता, मुक्त के कभी भी पुनः पतन का अभाव, दिक्षामत की निर्युक्तिकता, अस्पृशद्गति से सिद्धशिलागमन, संसार का अविच्छेद, त्रिकोटिपरिशुद्ध जिनाज्ञा योग्य को ही देनी, इत्यादि का भी सुन्दर प्रतिपादन है।

ऐसे महान प्रौढ शास्त्र पर आ. श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्पष्ट सुबोध टीका यानी विवेचन लिखा है। कई स्थान पर मूल सूत्र में कही हुई बात का समर्थन करने के लिए प्रबल युक्ति-उपपत्ति भी आपने सुन्दर दी है, और कईयों के रहस्यों का अनन्यलभ्य उद्घाटन किया है। सारांश यह कि अपने लेख से 'पंचसूत्र' की महाशास्त्रता का उत्तम आविर्भाव किया है।

यही सोचने योग्य है कि १४४४ शास्त्रों के प्रणेता, संस्कृत प्राकृत साहित्य के गगनमण्डल में मार्तण्ड सा साहित्य के विधाता, स्वपर दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, अपूर्व ज्ञानगंगा के हिमाचल, निष्पक्ष समदर्शी आलोचक, साहित्य के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से अङ्कित, महान शासनप्रभावक आचार्य भगवान श्री हरिभद्रसूरीजी महाराज जैसे जिस पर विवेचनार्थ अपनी सूत्र-सी कलम उठावे, वह ग्रन्थ कितना उत्तम, उपयुक्त एवं अध्ययन-मनन-भावनार्ह होगा!

इसी प्रेरणा से यह हिन्दी प्रकाशन किया जाता है। ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पू.पं. श्री भानुविजयजी गणिवर (स्व.आचार्य भुवनभानु सूरीश्वरजी म.) से रचित 'उच्च प्रकाशन ना पंथे' संज्ञक सटीक पंचसूत्र के विस्तृत गुजराती विवेचन को सामने रखकर पं. श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया है। कई साल पूर्व विशेषतः कॉलेजियनों के लिए आंग्ल भाषा में पंचसूत्र का एक अनुवाद टीका टीप्पण सहित प्रकाशित हुआ था; हमें लिखते हुए दुःख होता है कि उसके निर्माता प्रोफेसर ने ग्रन्थ समझने में स्वयं कई क्षतियां करते हुए भी आ. श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज के कतिपय अर्थ प्रकाशन पर अनुचित आक्षेप किया है। सद्भाग्य है कि 'उच्च प्रका.' ग्रन्थ की भूमिका में इनका प्रतिवाद किया गया है। हमनें भी 'उच्च प्रका.' ग्रन्थ का लेख प्रमाणिक एवं सोपपत्तिक देखकर सरल स्पष्ट भावानुवाद के लिए उसका सहारा लिया है।

(प्रथम संस्करण से उद्धृत)

विषय सूची पंचसूत्र की

क्रम	विषय		पृष्ठ

प्रथम सूत्र (पावपडिग्घाय-गुणबीजाहाणसुत्तं)

१. मंगलाचरण १
२. अनादि जीव और अनादि संसार का स्वरूप १
३. भवभ्रमण का अन्त करने के उपाय १
४. तथाभव्यत्वपरिपाक के साधन २
५. सूत्र पठन का काल २
६. श्री अरिहंत प्रभु का शरण २
७. श्री सिद्ध भगवान का शरण २
८. श्री साधु महाराज का शरण ३
९. श्री सर्वज्ञभाषित धर्म का शरण ३
१०. जन्म-जन्मांतर के जीव-अजीव विषयक दुष्कृत्यों की निन्दा ३
११. दुष्कृत अकरण नियम ४
१२. सत्समागम की प्रार्थना ४
१३. परमेष्ठिसुकृत-अनुमोदना ५
१४. अन्यसुकृत-अनुमोदना ५
१५. अरिहंत आदि के प्रभाव से अनुमोदन का साफल्य ५
१६. अरिहंत और मैं? ६
१७. अशुभनाश के उपाय तथा शुभ की सिद्धियां ६
१८. मंगल निदान ७

द्वितीय सूत्र (साहु धम्म परिभावणासुत्तं)

१. धर्मगुणों का स्वरूप ८
२. पांच स्थूलव्रत ८
३. आगमपठन-श्रवण, जिनाज्ञापारतन्त्र्य ९
४. अधर्म मित्र का त्याग ९
५. लोकविरुद्ध का त्याग १०
६. अबोधि का अनर्थ १०
७. कल्याण मित्र का सेवन १०
८. चार प्रकार का व्यवहार ११
९. मन-वचन-काया की शुद्धि ११
१०. परिवार का पालन पोषण एवं आत्म जागृति ११
११. धर्मोचित आचार-व्यवहार १२
१२. धर्म-जागरण १३
१३. धर्म औषध १३
१४. धर्म अभिलाषा १३
१५. कर्म-अपगम, संवेग, विशुद्धि १३

क्रम	विषय		पृष्ठ

तृतीय सूत्र (पव्वज्जागहणविहिसुत्तं)

१.	साधु धर्म के लिए प्रयत्न	....	१५
२.	माता-पिता को प्रतिबोध	....	१६
३.	संसार स्वरूप का वर्णन	....	१६
४.	परिवार सहित धर्म सेवन	....	१७
५.	मुमुक्षु की कृतज्ञता और करुणा	....	१७
६.	दीक्षा की अननुमति पर माया	....	१७
७.	अटवी ग्लानऔषधि दृष्टान्त	....	१८
८.	शुक्लपाक्षिक जीव, सम्यक्त्वादि औषध	....	१९
९.	लोकोत्तर धर्म में प्रवेश	....	२०

चतुर्थ सूत्र (पव्वज्जापरिपालणासुत्तं)

१.	विशुद्ध चारित्रपालन	....	२१
२.	प्रथमसुख और गुरुकुलवास	....	२१
३.	अविधि अध्ययन से आपत्ति	....	२२
४.	प्रवचन-माता	....	२३
५.	आश्वासद्वीप, प्रकाश दीप	....	२३
६.	शारीरिक-व्याधि का उपचार	....	२४
७.	भवव्याधि का उपचार	....	२५
८.	गुरु-आदर से जिन-आदर	....	२६
९.	'योगी'=सम्पूर्ण भोग क्रिया में अनासक्त	....	२७
१०.	सम्यग्ज्ञान का प्रभाव	....	२७
११.	चरमभव की तैयारी	....	२८

पंचम सूत्र (पव्वज्जाफलसुत्तं)

१.	परमब्रह्म की प्राप्ति	....	३०
२.	परमब्रह्म का स्वरूप	....	३०
३.	निरपेक्षता का महत्त्व	....	३०
४.	अनुपमेय सिद्धिसुख	....	३१
५.	अनुभवगम्य सिद्धि-सुख	....	३२
६.	बद्ध-अबद्ध की मोक्षचर्चा	....	३३
७.	दिदृक्षा-भव्यत्व का वाद	....	३४
८.	मुक्ति पर सत्-असत् का विचार	....	३६
९.	सिद्धि का स्थान, गति आदि	....	३६
१०.	जिनाज्ञा के लिए पात्र-अपात्र निरूपण	....	३८
	धर्माचार्य बहुमान प्रकरणम्	....	३९
	श्रमण संघ को उपयोगी हितशिक्षा	....	४४

।। ॐ नमः सिद्धम् ।।

पंच सूत्र

हिन्दी अर्थ सहित

[प्रथम सूत्र]

पापप्रतिघात गुण बीजाघात

मूल - णमो वीअरागाणं सव्वण्णूणं देविंदपूइआणं जहट्ठिअवत्थुवाइणं तेलुक्कगुरूणं अरुहंताणं भगवंताणं ।।१।।

अर्थ : जो राग-द्वेष आदि विकारों से सर्वथा रहित हो चुके हैं, जो सर्वज्ञ अर्थात् अखिल विश्व के समस्त भावों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, जो इन्द्रों के द्वारा पूजित हैं, यथार्थ वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक हैं और तीनों लोक के गुरु हैं, अर्थात् अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले एवं हित का उपदेश देने वाले हैं, ऐसे अरुहन्त या अर्हन्त भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

मूल - जे एवमाइक्खंति-इह खलु अणाइ जीवे, अणाइ जीवस्स भवे, अणाइ कम्मसंजोगनिव्वत्तिए, दुक्खरूवे, दुक्खफले, दुक्खाणुबंधे ।।२।।

अर्थ : जो अर्हन्त भगवान ऐसा कथन करते हैं कि जीव अनादिकाल से है, जीव का संसार अर्थात् भवभ्रमण, जन्मजरादि अनादिकाल से है, यह भवभ्रमण अनादिकालीन कर्म-संयोग से जनित है। यह संसार जन्म, जरा, मरण, संयोग, वियोग रोग, शोक आदि दुःख स्वरूप है, परिणाम में भी जन्म-मरणादि दुःख उत्पन्न करने वाला है और दुःख की परम्परा का जनक है अर्थात् इसके आगे भी भवभ्रमण एवं दुःखों का प्रवाह चालु ही रहता है ।।२।।

मूल - एअस्स णं वुच्छित्ती सुद्धधम्माओ। सुद्धधम्मसंपत्ती पावकम्मविगमाओ। पावकम्मविगमो तहाभव्वत्ताइभावओ ।।३।।

अर्थ : इस अनादिकालिन भवभ्रमण का अन्त शुद्ध धर्म की आराधना करने से होता है। शुद्ध धर्म की प्राप्ति पापकर्म के विगम से होती है। पापकर्म का विगम अर्थात् जिसमें पुनः बन्ध न हो ऐसा क्षयोपशम तथाभव्यत्व आदि कारणों से अर्थात् वैयक्तिक भव्यत्वरूप स्वभाव, काल, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थ के अनुकूल योग से होता है ।।३।।

मूल - तस्स पुण विवागसाहणाणि- (१) चउसरणगमणं (२) दुक्कडगरिहा (३) सुकडाण (णाऽऽ) सेवणं ।।४।।

अर्थ : पूर्वोक्त तथाभव्यत्व का परिपाक करने के तीन उपाय हैं - (१) अर्हन्त, सिद्ध, साधु और वीतरागभाषित धर्म की शरण ग्रहण करना (२) इस भव और पर भव में किये गये पापों की आत्मसाक्षी और गुरुसाक्षी से निन्दा करना एवं (३) सुकृतों का सेवन और अनुमोदन करना ।।४।।

मूल - अओ कायव्वमिणं होउकामेणं सया सुप्पणिहाणं भुज्जो भुज्जो संकिलेसे, तिकालमसंकिलेसे ।।५।।

अर्थ : मोक्षार्थी भव्य जीव को पूर्वोक्त तीन साधनों का सर्वदा सुप्रणिधान अर्थात् कर्त्तव्यनिर्णय एवं एकाग्रतापूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा सेवन जब चित्त में संक्लेश हो अर्थात् राग-द्वेष की तीव्र परिणति हो तब पुनः पुनः और जब संक्लेश न हो तब त्रिकाल (त्रिसंध्य) करना चाहिए। इन साधनों का सुप्रणिधान करते समय इनमें अतिशय उपादेयबुद्धि और चित्त की अत्यन्त एकाग्रता होनी चाहिए ।।५।।

मूल - जावज्जीवं मे भगवंतो परमतिलोगनाहा, अणुत्तरपुण्णसंभारा, खीणरागदोसमोहा, अचिंतचिंतामणी भवजलहिपोआ, एगंतसरणा अरहंता सरणं ।।६।।

अर्थ : अरहन्त भगवान का शरण ग्रहण करने की विधि तीनलोक के परम वास्तविक श्रेष्ठ नाथ, लोकोत्तर (तीर्थंकर-नामकर्मादि) पुण्यसमूह निधि, राग-द्वेष और मोह का सर्वथा क्षय कर देने वाले, अचिंत्य समस्त लाभों को प्रदान करने वाले अचिंत्य चिंतामणि, संसार सागर में जहाज के समान और एकांत शरणरूप अर्थात् शरणागत का सदा के लिए सम्पूर्ण हित करने वाले अरहन्त देव मेरे लिए जीवनपर्यन्त (मोक्षपर्यन्त) शरण हैं आपके शरण में मैं हूँ, आप ही मेरे आधार हैं ।।६।।

मूल - तहा पहीणजरामरणा, अवेअकम्मकलंका, पणट्ठवाबाहा, केवलनाणदंसणा, सिद्धिपुरनिवासी, निरुवमसुहसंगया, सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा सरणं ।।७।।

अर्थ : इसी प्रकार जो सदा के लिए जरा और मरण से रहित हो चुके हैं, कर्म-कलंक से रहित है, सब प्रकार की बाधा-पीड़ा को नष्ट कर चुके हैं, केवलज्ञान-केवलदर्शन से सम्पन्न हैं, सिद्धिपुर (मुक्ति) के निवासी हैं, अनुपम आत्मिकसुख से युक्त हैं और पूर्ण रूप से कृतकृत्य हो चुके हैं — जिन्हें कुछ भी करना शेष नहीं रहा है, ऐसे सिद्ध भगवान मेरे लिए शरण हैं-आप ही मेरे आधार हैं ।।७।।

मूल - तहा पसंतगंभीरासया, सावज्जजोगविरया, पंचविहायारजाणगा,

परोवयारनिरया, पउमाइनिदंसणा, झाणज्झयणसंगया, विसुज्झमाणभावा साहू सरणं ॥८॥

अर्थ : तथा अत्यन्त शांत और गम्भीर आशय (चित्त व्यापार) वाले, पापयुक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति के त्यागी, पांच प्रकार के आचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) के ज्ञाता, धर्मदेशना-धर्मसम्पादन-धर्मरक्षण द्वारा परोपकार में निरत, कमल आदि की उपमाओं से उपमित, प्रशस्त ध्यान एवं स्वाध्याय में लीन तथा समिति-गुप्ति आदि शास्त्रविहित अनुष्ठानों द्वारा आत्म परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि करने वाले साधु भगवान मेरे लिए शरण हैं, मैं आपके शरण में हूँ ॥८॥

मूल - तहा सुरासुरमणुअपूइओ, मोहतिमिरंसुमाली, रागद्दोसविसपरममंतो, हेऊ सयलकल्लाणाणं, कम्मवणविहावसू, साहगो सिद्धभावस्स, केवलिपण्णत्तो धम्मो, जावज्जीवं मे भगवं सरणं ॥९॥

अर्थ : तथा जो सुरों (ज्योतिष्क तथा वैमानिक देवों) और असुरों (भवनपति और व्यन्तर देवों) तथा विद्याधर आदि मनुष्यों द्वारा पूजित हैं, जो मोह रूपी अन्धकार को हटाने के लिए सूर्य के समान हैं, राग-द्वेष रूपी विष को नष्ट करने के लिए उत्तम मंत्र के समान है, समस्त कल्याणों का एकमात्र कारण है, कर्मरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि है, जिसकी आराधना से सिद्धत्व की प्राप्ति होती है और जो सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित है ऐसा भगवान (ऐश्वर्यशाली) धर्म मेरे लिए जीवन पर्यन्त के लिए शरण हो।

[मूल में आया हुआ 'भगवं' पद संबोधन भी हो सकता है जिसका अर्थ होगा- 'प्रभो! ऐसा धर्म मेरे लिए शरणभूत हो।'] ॥९॥

मूल - सरणमुवगओ अ एएसिं गरहामि दुक्कडं जं णं अरहंतेसु वा, सिद्धेसु वा, आयरिएसु वा, उवज्झाएसु वा, साहूसु वा, साहुणीसु वा, अन्नेसु वा, धम्मट्ठाणेसु माणणिज्जेसु पूअणिज्जेसु तहा माईसु वा, पिईसु वा, बंधूसु वा, मित्तेसु वा, उवयारिसु वा, ओहेण वा जीवेसु, मग्गट्ठिएसु, अमग्गट्ठिएसु, मग्गसाहणेसु, अमग्गसाहणेसु, जं किंचि वितहमायरिअं अणायरिअव्वं अणिच्छिअव्वं पावं पावाणुबंधि सुहूमं वा बायरं वा, मणेण वा वायाए वा काएण वा, कयं वा काराविअं वा अणुमोइअं वा, रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा, इत्थं वा जम्मे जम्मंतरेसु वा, गरहिअमेअं, दुक्कडमेअं, उज्झिअव्वमेअं, विआणिअं मए कल्लाणमित्तगुरुभगवंतवयणाओ, एवमेअं ति रोइअं सद्धाए, अरहंतसिद्धसमक्खं, गरहामि अहमिणं, दुक्कडमेअं उज्झिअव्वमेअं। इत्थ मिच्छा मि दुक्कडं, मिच्छा मि दुक्कडं, मिच्छा मि दुक्कडं ॥१०॥

अर्थ : अरहन्त आदि चार शरणों को प्राप्त हुआ मैं उनके प्रति तथा अन्य के प्रति किये गये दुष्कृत की गर्हा निन्दा करता हूँ। वह इस प्रकार है —

अब तक अरहन्त देवों, सिद्ध भगवन्तों, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी तथा अन्य माननीय, पूजनीय (साधर्मिक आदि) धर्मपात्रों के प्रति तथा अनेक जन्मों के माता-पिताओं, बन्धुओं, (सगे-सम्बन्धिओं) मित्रों, उपकारियों के प्रति तथा मोक्षमार्ग में स्थित या कुमार्ग में स्थित सभी जीवों के प्रति ज्ञान-दर्शन चारित्र रूपी मोक्ष मार्ग में साधनभूत (उपकारक) जिनबिंब, पुस्तक, रजोहरणादि के प्रति या मोक्षमार्ग में असाधनभूत (अनुपकारक) वस्तुओं के प्रति मैंने जो भी न करने योग्य, अवांछनीय, पापरूप एवं पाप की परम्परा का जनक अनुचित आचरण किया हो, चाहे वह सूक्ष्म (अल्प) हो या स्थूल (बहुत) हो मन से या वचन से या काया से स्वयं किया हो या दूसरे से करवाया हो या करने का अनुमोदन किया हो, राग से द्वेष से या मोह से प्रेरित होकर, इस जन्म में या दूसरे जन्मों में किया हो, वह सब अब मेरे लिए गर्हणीय निन्दनीय है, दुष्कृत अधर्म रूप है, त्याज्य है, ऐसा मैंने कल्याण मित्र (मेरी आत्मा का कल्याण चाहने वाले-आत्म कल्याण में प्रवृत्त करने वाले) गुरु भगवन्तों के वचन से जाना हैं और 'आपका वचन सत्य है' इस प्रकार से वे वचन मुझे श्रद्धापूर्वक रुचिकर भी हुए हैं। अतएव मैं अरिहन्त और सिद्ध भगवन्तों के सामने अपने उस पापाचार की गर्हा करता हूँ वह दुष्कृत अधर्मरूप होने से उसकी निन्दा करता हूँ, और उसका त्याग करता हूँ। अतएव मेरा वह पाप मिथ्या हो, मेरा वह पाप मिथ्या हो, मेरा वह पाप मिथ्या हो ।।१०।।

मूल - होउ मे एसा सम्मं गरिहा। होउ मे अकरणनियमो। बहुमयं ममेअंति इच्छामि अणुसट्ठिं अरहंताणं भगवंताणं गुरूणं कल्लाणमित्ताणं ति।।११।।

अर्थ : मेरी यह दुष्कृत गर्हा सच्ची हो - हार्दिक हो। आगे दुष्कृत न करने का मुझे नियम हो। चतुः शरणगमन और दुष्कृत निन्दा मुझे अत्यन्त रुचिकर है, अतएव मैं अरहन्त भगवन्तों की और कल्याणपथ में प्रवृत्त करने वाले गुरुओं की शिक्षा की इच्छा करता हूँ ।।११।।

मूल - होउ मे एएहिं संजोगो। होउ मे एसा सुपत्थणा। होउ मे इत्थ बहुमाणो। होउ मे इओ मुक्खबीअं ति ।।१२।।

अर्थ : अरहन्त भगवन्तों और कल्याणमित्र सद्गुरुओं के साथ मेरा समागम हो। यह मेरी प्रार्थना सफल हो। इस प्रार्थना में मेरा बहुमान हो और इसके फलस्वरूप मुझे मोक्ष के बीज (कुशलानुबंधि कर्म) की प्राप्ति हो ।।१२।।

मूल - पत्तेसु एएसु अहं सेवारिहे सिआ, आणारिहे सिआ, पडिवत्तिजुए

सिआ, निरइआरपारगे सिआ।

अर्थ : अरहन्त भगवन्तों और सद्गुरुओं की प्राप्ति होने पर मैं उनकी सेवा (उपासना) के योग्य होऊँ, उनकी आज्ञा का पालन करने के योग्य होऊँ, 'उनकी आज्ञा का पालन में ही मेरा उद्धार है', इस तरह की दृढ़ प्रतीति सहित मैं उनके प्रति बहुमान, भक्ति एवं समर्पणभाव वाला होऊँ एवं उनकी आज्ञा का निरतिचार (दोष रहित) पालन करनेवाला होऊँ ।।१२।।

मूल - संविग्गो जहासत्तीए सेवेमि सुकडं। अणुमोएमि सव्वेसिं अरहंताणं अणुट्ठाणं, सव्वेसिं सिद्धाणं सिद्धभावं, सव्वेसिं आयरियाणं आयारं, सव्वेसिं उवज्झायाणं सुत्तप्पयाणं, सव्वेसिं साहूणं साहुकिरिअं ।।१३।।

अर्थ : मैं मुक्ति का अभिलाषी होकर अपनी शक्ति के अनुसार सुकृत का सेवन करता हूँ। समस्त अरहन्त भगवन्तों के लोकोत्तर धर्मदेशना आदि अनुष्ठानों की अनुमोदना करता हूँ। समस्त सिद्ध भगवन्तों के सिद्धभाव, अव्याबाधस्थिति, अनन्त अक्षय सुख, स्फटिक के सदृश निष्कलंक शुद्ध आत्मस्वरूप आदि की अनुमोदना करता हूँ। समस्त आचार्यों के पांच आचारों की अनुमोदना करता हूँ। समस्त उपाध्यायों के सूत्रप्रदान की अनुमोदना करता हूँ। समस्त साधुओं की अहिंसा, संयम, तप, ध्यान, अध्ययन आदि-आदि शुभ क्रियाओं की अनुमोदना करता हूँ ।।१३।।

मूल - सव्वेसिं सावगाणं मुक्खसाहणजोगे, सव्वेसिं देवाणं सव्वेसिं जीवाणं होउकामाणं कल्लाणासयाणं मग्गसाहणजोगे ।।१४।।

अर्थ : समस्त श्रावकों के देवभक्ति, गुरुभक्ति, धर्मराग, दान, व्रत, नियम आदि मोक्ष के साधनभूत प्रवृत्तिओं की अनुमोदना करता हूँ। आसन्नभव्य अतएव विशुद्ध आशयवाले समस्त इन्द्रादि देवों के और समस्त जीवों के मोक्ष मार्ग के साधनयोगों की (मार्गानुसारित्वादि कुशल व्यापार की) अनुमोदना करता हूँ। ।।१४।।

मूल - होउ मे एसा अणुमोअणा सम्मं विहिपुव्विआ, सम्मं सुद्धासया, सम्मं पडिवत्तिरूवा, सम्मं निरइयारा, परमगुणजुत्तअरहंताइसामत्थओ। अचिंतसत्तिजुत्ता हि ते भगवंतो वीअरागा सव्वण्णू परमकल्लाणा परमकल्लाणहेऊ सत्ताणं ।।१५।।

अर्थ : लोकोत्तर गुणों से विभूषित श्री अरहन्त सिद्ध भगवान आदि के सामर्थ्य के प्रभाव से मेरी यह पूर्वोक्त अनुमोदना आगमानुसार सम्यक् विधि वाली हो, मेरी यह अनुमोदना कर्मविगम से शुद्ध आशय वाली हो, सम्यक् स्वीकार वाली हो अर्थात अमल में आने योग्य हो और वह पालन करने में सम्यक् प्रकार से निरतिचार हो।

वे अरिहंतादि भगवान अचिन्त्यशक्ति वाले हैं, वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, परम

कल्याण स्वरूप हैं और विविध उपायों द्वारा जगत के जीवों के लोकोत्तर कल्याण के कारण हैं। (उनके प्रभाव से मेरी यह अनुमोदना सम्यग्-वास्तविक क्यों नहीं बनेगी? अवश्यमेव बनेगी।) ।।१५।।

मूल - मूढे अम्हि पावे, अणाइमोहवासिए, अणभिन्ने भावओ हिआहिआणं, अभिन्ने सिया अहिअनिवित्ते सिआ, हिअपवित्ते सिआ, आराहगे सिआ उचिअपडिवत्तीए सव्वसत्ताणं सहिअं ति। इच्छामि सुकडं, इच्छामि सुकडं, इच्छामि सुकडं ।।१६।।

अर्थ : पूर्वोक्त विशिष्ट गुणों वाले अरिहन्त आदि भगवन्तों को शरणरूप में स्वीकार करने में मैं मूढ़ (अयोग्य) हूँ, क्योंकि मैं पापी हूँ, **अनादिकालीन मोह की वासना से वासित हूँ।** हे प्रभो! परमार्थ रूप से मैं अपने हिताहित से अनजान हूँ। किन्तु आपके अचिन्त्य सामर्थ्य से मैं हिताहित का ज्ञाता बनूँ, अहितकारी मिथ्यात्व-अविरति-कषाय आदि से निवृत्त होऊं, हित (मोक्षमार्ग) में प्रवृत्त होऊं तथा सर्व जीवों के प्रति समुचित प्रवृत्ति के साथ मोक्षमार्ग का आराधक बनूं। इस प्रकार मैं सुकृत की अभिलाषा करता हूँ। सुकृत की अभिलाषा करता हूँ। पुनः पुनः सुकृत की अभिलाषा करता हूँ ।

(तीन बार सुकृत की अभिलाषा करने का कथन सुकृत करने की अति उत्कट अभिलाषा को भी प्रकट करता है) ।।१६।।

मूल - एवमेअं सम्मं पढमाणस्स सुणमाणस्स अणुप्पेहमाणस्स सिढिलीभवंति परिहायंति खिज्जंति असुहकम्माणुबन्धा। निरणुबंधे वाऽसुहकम्मे भग्गसामत्थे सुहपरिणामेणं, कडगबद्धे विअ विसे, अप्पफले सिआ सुहावणिज्जे सिया, अपुणभावे सिआ।

तहा आसगलिज्जंति परिपोसिज्जंति निम्मविज्जंति सुहकम्माणुबंधा। साणुबंधं च सुहकम्मं पगिट्ठं पगिट्ठभावज्जिअं नियमफलयं सुप्पउत्ते विअ महागए सुहफले सिआ, सुहपवत्तगे सिआ, परमसुहसाहगे सिआ।

अओ अपडिबंधमेअं असुहभावनिरोहेणं सुहभावबीअं ति सुप्पणिहाणं सम्मं पढिअव्वं, सम्मं सोअव्वं, सम्मं अणुप्पेहिअव्वंति ।।१७।।

अर्थ : हृदय में संवेगभाव धारण करके जो मनुष्य स्वयं सम्यक् प्रकार से इस सूत्र को पढ़ता है या दूसरों से सुनता है और फिर इसके अर्थ का चिन्तन करता है, उसके पूर्वबद्ध अशुभकर्मों का रस मन्द हो जाता है, उन कर्मों की स्थिति कम हो जाती है और विशिष्ट अध्यवसाय उत्पन्न होने सेअशुभ कर्मों का अनुबंध (बीज शक्ति) समूल नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार इस सूत्र के अध्ययन-चिन्तन से जो शुभ परिणाम उत्पन्न

होता है, उससे अशुभ कर्म का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है, अतएव वह कर्म अनुबन्धहीन होता है। जैसे मन्त्र के सामर्थ्य से कटकबद्ध (सर्पादि के डंक के नजदीक कपड़ा, डोरी आदि का बन्ध करने से बांधा हुआ) विष अत्यन्त न्यून फलदायी होता है, उसी प्रकार शुभ परिणाम के प्रभाव से अशुभ कर्म अल्प फलदायी होता है और सरलता से उसे निर्जरित (नष्ट) किया जा सकता है। इतना ही नहीं वैसी उत्कृष्ट स्थिति और अशुभ विपाक वाला रस फिर उत्पन्न भी नहीं होता।

साथ ही इस सूत्र के पठन, श्रवण एवं चिन्तन से शुभ कर्म के अनुबंध आत्मा में आकर्षित होते हैं, पुष्ट होते हैं और पूर्णता को प्राप्त होते हैं। अनुबंध वाला शुभ कर्म उत्कृष्ट बनता है और उत्कृष्ट अध्यवसाय द्वारा उपार्जित होने के कारण अवश्य फल देता है। वह कुशलानुबंधि कर्म विधि-पथ्यादि प्रयुक्त महान् औषध के समान शुभफल-दायक होता है। नवीन शुभ में प्रवृत्ति कराता है और अन्त में परम सुख (निर्वाण) का साधक बनता है।

यह सूत्र सांसारिक कामनाओं को दूर करके तथा अशुभ भावों का निरोध करके शुभ भावों का बीज बनता है। अतएव सुन्दर प्रणिधान (एकाग्रता एवं कर्तव्यनिश्चय) के साथ, चित्त को प्रशान्त बनाकर इसका सम्यक् पाठ करना चाहिये, सम्यक् श्रवण करना चाहिए, और सम्यक् चिन्तन करना चाहिये ।।१७।।

मूल - नमो नमिअनमिआणं परमगुरुवीअरागाणं। नमो सेसनमुक्कारारिहाणं। जयउ सव्वण्णुसासणं। परमसंबोहीए सुहिणो भवंतु जीवा, सुहिणो भवंतु जीवा, सुहिणो भवंतु जीवा, ।।१८।।

पढमं पावपडिग्घाय-गुण-बीजाहाण सुत्तं समत्तं ।

अर्थ : देव और दानवादि से नमस्कृत ऐसे इन्द्र एवं गणधर आदि भी जिन्हें नमस्कार करते हैं, उन परमगुरु वीतराग भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ। शेष नमस्कार करने योग्य सिद्ध, आचार्य आदि को नमस्कार करता हूँ। सर्वज्ञ के शासन की जय हो! परम संबोधि (निर्मल सम्यक्त्व) को प्राप्त करके जगत के सर्वजीव सुखी हों! जगत के सर्वजीव सुखी हों! जगत के सर्वजीव सुखी हों ।।१८।।

।। पहला पाप प्रतिघात गुण बीजाधान सूत्र समाप्त ।।

जो अपने विचारों को शुद्ध बनाता है, उसीके लिए भावना भवनाशिनी है।

- जयानन्द

पंच सूत्र

[द्वितीय सूत्र]

साधुधर्म - परिभावना

मूल - जायाए धम्मगुणपडिवत्तिसद्धाए भाविज्जा एएसिं सरूवं, पयइसुंदरत्तं, अणुगामित्तं, परोवयारित्तं, परमत्थहेउत्तं-

तहा दुरणुचरत्तं, भंगे दारुणत्तं, महामोहजणगत्तं भूओ दुल्लहत्तं ति ।।१।।

अर्थ : प्रथम सूत्र में धर्मगुणों के बीजाधान का कथन किया गया है। वह बीज जब पकता है तो धर्मगुणों (व्रतों) की सन्मुखता प्राप्त होती है, आत्मा में उन गुणों को जाग्रत करने की परिणति उत्पन्न होती है। उस समय मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, वह इस प्रकरण (सूत्र) में बतलाते हैं :-

मिथ्यात्व आदि कर्मों का क्षयोपशम होने से आत्मा में धर्मगुणों की प्राप्ति की श्रद्धा (रुचि) उत्पन्न हो जाने पर धर्मगुणों (अहिंसादि व्रतों) के स्वरूप का इस प्रकार भावित चिंतन करना चाहिए कि 'वे जीव के संक्लिष्ट परिणाम को दूर करते हैं इसलिए वे स्वभावतः सुन्दर हैं, वे भवान्तर में भी संस्कार रूप से साथ चलने वाले हैं, स्व पर को पीड़ादिक नहीं करने वाले होने से स्वपर के उपकारी हैं और परम्परा से परमार्थ मोक्ष के कारण हैं,' इन बातों का भी विचार करना चाहिए।

साथ ही, यह भी विचारना चाहिए कि 'धर्मगुणों' (व्रतों) का आचरण करना कोई हँसी खेल नहीं है, इनका आचरण करने में बाह्य और आन्तरिक अनेक कठिनाइयाँ आती हैं क्योंकि इनका निरन्तर अभ्यास नहीं है। इन गुणों-व्रतों का स्वीकार करके (प्रमाद से) भंग करना अत्यन्त भयंकर होता है। क्योंकि उससे जिनाज्ञा का भंग होता है और दुर्गति होती है। ऐसा करने से महामोह की उत्पत्ति होती है और विपक्ष (हिंसादि अधर्म) के अनुबंध की पुष्टि होने के कारण भवान्तर में उन धर्मगुणों (व्रतों) की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।।१।।

मूल - एवं जहासत्तीए उचिअविहाणेणं अच्चंतभावसारं पडिवज्जिज्जा। तं जहा १-थूलगपाणाइवायविरमणं, २-थूलग मुसावायविरमणं, ३-थूलग अदत्तादाणविरमणं, ४-थूलग मेहुणविरमणं, ५-थूलग परिग्गहविरमणमिच्चाइ।।२।।

अर्थ : इस प्रकार अपनी शक्ति से अन्यून-अनधिक, शास्त्रोक्त विधि-पुरस्सर,

एवं अत्यन्त प्रणिधान (कर्त्तव्यनिर्णय) के बल से समेत धर्मगुणों (व्रतों) को अंगीकार करना चाहिए। वे धर्मगुण (ये हैं १) स्थूल प्राणातिपात का त्याग, अर्थात् निरपराधी त्रस जीव को जानबूझ कर हनने की बुद्धि से हनन न करना; (२) स्थूल मृषावाद का त्याग, कन्या-अलीक आदि झूठ न बोलना, (३) स्थूल अदत्तादान का त्याग, अर्थात् चुंगी-चोरी, झूठा नाप तोल, ताला तोड़कर चोरी करना आदि राजदंडनीय एवं लोकनिंदनीय चोरी का त्याग, (४) स्थूल मैथुन का त्याग अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों के साथ संभोग न करना; और (५) स्थूल परिग्रह विरमण अर्थात् धन-धान्य आदि की की हुई मर्यादा का उल्लंघन न करना। 'इत्यादि' शब्द से तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का ग्रहण करना चाहिए ।।२।।

मूल - पडिवज्जिऊण पालणे जइज्जा, सयाऽऽणागाहगे सिया, सयाऽऽणाभावगे सिआ, सयाऽऽणापरतंते सिआ। आणा हि मोहविसपरममंतो, जलं रोसाइजलणस्स, कम्मवाहितिगिच्छासत्थं, कप्पपायवो सिवफलस्स ।।३।।

अर्थ : धर्म गुणों (व्रतों) को अंगीकार करके पालन करने में यत्नशील होना चाहिए। यत्नशील होने के लिए आगमों के पठन, श्रवण द्वारा जिनाज्ञा (जिनागम) का ग्राहक होना चाहिए। अनुप्रेक्षा द्वारा जिनाज्ञा का भावक-चिन्तक होना चाहिए और अनुष्ठान संबन्ध में सदैव जिनाज्ञा के परतंत्र-अधीन रहना चाहिए। जिनाज्ञा मोह रूपी विष को दूर करने के लिए परम मंत्र है, क्रोधादि कषायों की अग्नि को शान्त करने के लिए जल है, कर्म रूपी व्याधि के क्षय के लिए चिकित्साशास्त्र है, और मुक्तिरूपी फल को देने के लिए कल्पतरु है ।।३।।

मूल - वज्जिज्जा अधम्ममित्तजोगं, चिंतिज्जाऽभिणवपाविए गुणे, अणाइभवसंगए य अगुणे। उदग्गसहकारित्तं अधम्ममित्ताणं, उभयलोगगरहिअत्तं, असुहजोगपरंपरं च ।।४।।

अर्थ : साधु जीवन की योग्यता प्राप्त करने के लिए **अकल्याण मित्रों का सम्पर्क त्यागना चाहिए**, अर्थात् जो आत्मकल्याण के बाधक हैं; वे चाहे सगे सम्बन्धी ही क्यों न हों उनके संसर्ग से दूर रहना चाहिए। साथ ही नवीन प्राप्त किये हुए अणुव्रतादि गुणों का और अनादिकालीन भवपरम्परा से साथ लगे हुए अविरत्यादि दुर्गुणों का चिन्तन करना चाहिए। सोचना चाहिए कि अधर्मीमित्र पाप में अनुमति आदि द्वारा दुर्गुणों में अत्यन्त सहकारी है। इस लोक और परलोक के सत् पुरुषार्थों का वे नाश करते हैं और अशुभ योगों की परम्परा का सर्जन करते हैं, अतएव उनका सम्पर्क अकुशलानुबंधी होने से वर्ज्य है ।।४।।

मूल - परिहरिज्जा सम्मं लोगविरुद्धे, करुणापरे जणाणं, न खिंसाविज्ज

धम्मं संकिलेसो खु एसा परं अबोहिबीअं, अबोहिफलमप्पणो त्ति ।।५।।

अर्थ : जीवों के प्रति करुणा परायण होने के कारण वे धर्म के विमुख न बनें इसलिए लोक विरुद्ध कार्यो का जैसे कि सात कुव्यसन, निन्दा, चुगली, कर्मादान आदि का त्याग करना चाहिए। जिससे धर्म की अवहेलना होती हो ऐसी प्रवृत्ति से उसे दूर रहना चाहिए। यह अवहेलना संक्लेश रूप होने से और धर्म के प्रति प्रद्वेष को उत्पन्न करने वाली होने से प्रद्वेषवान व्यक्ति के परम अबोधि का कारण है। तात्पर्य यह है कि इस अवहेलना से जनसाधारण में धर्म के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है। धर्म के प्रति अरुचि या घृणा उत्पन्न होने से साधारण लोग बोधिबीज से वंचित होते हैं, अतएव अपने लिए अबोधि रूपी फल उत्पन्न होता है ।।५।।

मूल - एवमालोएज्जा-न खलु इत्तो परो अणत्थो, अंधत्तमेअं संसाराडवीए, जणगमणिट्ठावायाणं, अइदारुणं सरूवेणं, असुहाणुबंधमच्चत्थं ।।६।।

अर्थ : इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अबोधि रूप फल या उस फल के जनक लोकविरुद्ध कार्यों से बढ़कर कोई दूसरा अनर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह अबोधि संसाररूपी अटवी में अंधेपन के समान है, नरकादि अनिष्ट गतियों में गिराने वाली है। संक्लिष्ट परिणाम रूप होने से उसका स्वरूप ही अत्यन्त भयानक है और उसके कारण कर्मों का अत्यन्त अशुभ विपाक वाला अनुबंध (कर्म बीज शक्ति) होता है ।।६।।

मूल - सेविज्ज धम्ममित्ते विहाणेणं, अंधो विवाणूकट्टए, वाहिए विव विज्जे, दरिद्दो विव ईसरे, भीओ विव महानायगे। न इओ सुन्दरतरमन्नं ति, बहुमाणजुत्ते सिआ, आणाकंखी, आणापडिच्छगे, आणाअविराहगे, आणा निप्फायगे त्ति ।।७।।

अर्थ : विधिपूर्वक अर्थात् श्रद्धा, प्रीति एवं आदर के साथ कल्याण मित्र का सेवन करना चाहिए। जैसे अंधा आदमी अटवी में भटकता हुआ पातादि के भय से सुपथ की ओर ले जाने वाले का, बीमार दुःख के भय से वैद्य का, दरिद्र निर्वाह के कारण ऐश्वर्यवान् का और भयभीत पुरुष शरण के लिए किसी सामार्थ्यवान् नायक का आश्रय लेता है उसी प्रकार कल्याणमित्र का आश्रय लेना चाहिए। इस संसार में कल्याणमित्र के सेवन से अधिक हितकर अन्य कुछ भी नहीं है। अतएव कल्याणमित्र के प्रति खूब आदर भाव रखना चाहिए। आज्ञा प्राप्ति के पूर्वकाल में उसकी आज्ञा का अभिलाषी बनना चाहिए। आज्ञा, प्रदानकाल में आज्ञा का स्वीकार करना चाहिए, आज्ञा प्राप्त होने के पश्चात आज्ञा की विराधना नहीं करनी चाहिए, और आज्ञा पालन के समय औचित्य, बहुमान, विनय, सेवा आदि सहित और आज्ञा के अनुसार ही कार्य करना

चाहिए ।।७।।

मूल - पडिवन्नधम्मगुणारिहं च वट्टिज्जा, गिहिसमुचिएसु गिहिसमायारेसु, परिसुद्धाणुट्ठाणे, परिसुद्धमणकिरिए, परिसुद्धवइकिरिए, परिसुद्धकायकिरिए।।८।।

अर्थ : कल्याण मित्र की आज्ञा के वशवर्ती होने के साथ धर्मगुणों को धारण करने वाले पुरुष के योग्य ही बर्ताव करना चाहिए। एक आदर्श गृहस्थ की तरह गृहस्थ के व्यवहारों को निभाना चाहिए। विशुद्ध आचारवान् होना चाहिए। मन, वचन और काया की क्रियाएँ शास्त्रोक्त रीति से पूरी तरह शुद्ध होनी चाहिए ।।८।।

मूल - वज्जिज्जा अणेगोवघायकारगं, गरहणिज्जं, बहुकिलेसं, आयइविराहगं, समारंभं। न चिंतिज्जा परपीडं। न भाविज्जा दीणयं। न गच्छिज्जा हरिसं। न सेविज्जा वितहाभिनिवेसं। उचियमणपवत्तगे सिया।

न भासिज्जा अलिअं, न फरुसं, न पेसुन्नं, नाणिबद्धं। हिअमिअभासगे सिआ।

एवं न हिंसिज्जा भूआणि। न गिण्हिज्ज अदत्तं। न निरिक्खिज्ज परदारं। न कुज्जा अणत्थदंडं। सुहकायजोगे सिआ ।।९।।

अर्थ : मन वचन काया की शुद्धि इस प्रकार करें :- अनेक जीवों का उपघात करने वाले, निन्दनीय, अत्यन्त क्लेशकारी तथा भविष्य को नष्ट करने वाले समारंभ का त्याग करें। दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का विचार न करें। मन में दीनता न आने दें। अनुकूल प्रसंग उपस्थित होने पर हर्षित न हों। मिथ्या अभिनिवेश (दुराग्रह) न करें। मन को उचित रीति से ही प्रवृत्त करना चाहिए।

मिथ्या भाषण न करें। कर्कश भाषण न करें। किसी पर मिथ्या दोषारोपण न करें। बेकार गपसप न करें। हितकारी और परिमित वचनों का ही प्रयोग करें।

इसी प्रकार जीवों की हिंसा न करें। अदत्त वस्तु को ग्रहण न करें। परस्त्री को न ताकें। अनर्थदण्ड न करें। तात्पर्य यह है कि काया से शुभ प्रवृत्ति ही करें ।।९।।

मूल - तहा लाहोचिअदाणे, लाहोचिअभोगे, लाहोचिअपरिवारे, लाहोचिअनिहिकरे सिआ।

असंतावगे परिवारस्स, गुणकरे जहासत्तिं, अणुकंपापकरे, निम्ममे भावेणं।

एवं खलु तप्पालणे वि धम्मो, जह अन्नपालणे त्ति। सव्वे जीवा पुढो पुढो, ममत्तं बंधकारणं ।।१०।।

अर्थ : आय (आमद) के अनुसार दान करें, आय के अनुसार उपभोग करें, आय के अनुसार परिवार का पोषण करें और आय के अनुसार संचय करें। साधारणतया माना जाता है कि गृहस्थ अपनी आय का आठवां भाग दान करे, आठवें भाग का स्वयं

उपभोग करे, चौथाई भाग से परिवार का पालन-पोषण करे, चौथाई भाग का पूंजी के रूप में संग्रह करे और चौथाई भाग व्यापार में लगावे।

परिवार को संताप उत्पन्न न करें, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार संसार का स्वरूप समझाकर उसे धर्म मार्ग में प्रवृत्त करे। परिवार के प्रति प्रतिफल की अपेक्षा न रखता हुआ अनुकंपाशील रहे और जल-कमल की भांति अन्तःकरण से ममत्वरहित हो।

सभी जीव पृथक् पृथक् हैं सब की अलग-अलग अपनी सत्ता है, कोई किसी का नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरे जीवों पर ममत्व स्थापित करना-उन्हें अपना मानना कर्मबन्ध का कारण है ।।१०।।

मूल - तहा तेसु तेसु समायारेसु सइसमण्णागए सिआ, अमुगेऽहं, अमुगकुले, अमुगसिस्से, अमुगधम्मट्ठाणट्ठिए। न मे तव्विराहणा, न मे तदारंभो, वुड्ढी ममेअस्स, एअमित्थ सारं, एयमायभूयं, एअं हिअं, असारमण्णं सव्वं, विसेसओ अविहिगहणेणं।

एवमाह तिलोगबंधु, परमकारुणिगे, सम्मं संबुद्धे, भगवं अरहंते त्ति, एवं समालोचिइअ तदविरुद्धेसु समायारेसु सम्मं वट्टिज्जा, भावमंगलमेअं तन्निप्फतीए।।११।।

अर्थ : कुटुम्ब को संताप करने वाला नहीं परंतु गुण करने वाला, अनुकम्पाशील किन्तु अन्तर से ममत्वहीन होकर जो गृहस्थोचित व्यवहार करता है, कुटुंब से व्यवहार करते समय भी ऐसा विचार करता रहे कि मैं अमुक हूँ, अमुक कुल का हूँ, अमुक का शिष्य हूँ और धर्म की अमुक भूमिका पर स्थित हूँ। मैंने जो व्रत अंगीकार किये हैं, उनकी विराधना तो नहीं कर रहा हूँ? उसका (विराधना का) आरंभ तो नहीं हो रहा है? मेरे धर्म-स्थान की वृद्धि हो रही है न? इस असार संसार में धर्म ही सार है, वही आत्मा की अपनी वस्तु है, वही हितकर है। अन्य धन-धान्य आदि जगत का समस्त वैभव असार है। और यदि वह वैभव **अविधिपूर्वक (अन्यायादि) से ग्रहण किया हुआ हो, तो वह विपाक में दारुण होने के कारण विशेषतया असार है।**

तीन लोक के बन्धु लोकोत्तर करुणा के सागर, स्वयं अन्योपदेश निरपेक्षतया वरबोधि को प्राप्त करने वाले भगवान अरिहंत देव ने ऐसा ही कहा है। इस प्रकार भली-भांति विचारकर अधिकृत धर्मस्थानक से अविरुद्ध आचारों में समीचीन प्रवृत्ति करे। इस प्रकार का विधिपूर्वक आचार व्यवहार ही भावमंगल है। क्योंकि इससे उत्तरोत्तर सुन्दर समाचार की प्राप्ति होती है ।।११।।

मूल - तहा जागरिज्ज धम्मजागरिआए-को मम कालो? किमेअस्स उचिअं? असारा विसया, नियमगामिणो विरसावसाणा। भीसणो मच्चू

सव्वाभावकारी, अविन्नायागमणो, अणिवारणिज्जो, पुणो पुणोऽणुबंधी ।।१२।।

अर्थ : तथा पूर्वोक्त मुमुक्षु जीव को धर्म जागरणा करनी चाहिए, वह इस प्रकार - मेरे लिए कैसा अवसर है? कितना मूल्यवान् अवसर मुझे मिला है? ऐसे अवसर पर क्या करना उचित है? इन्द्रियों के विषयों का सेवन करूं? नहीं, वे निस्सार हैं, निश्चित रूप से बिछुड़ने वाले हैं और उनका अन्त परिणाम दुःखदायी होता है। मृत्यु बड़ी भयानक है। वह सब समाप्त कर देती है। वह अचानक आती है और जब आती है तो उसका निवारण करना शक्य नहीं है। वह एक बार आकर नहीं रह जाती परंतु उसका चक्र बार बार चलता ही रहता है ।।१२।।

मूल - धम्मो एअस्स ओसहं, एगंतविसुद्धो, महापुरिससेविओ, सव्वहिअकारी, निरइआरो, परमाणंदहेऊ।

नमो इमस्स धम्मस्स। नमो एअधम्मपगासगाणं। नमो एअधम्मपालगाणं। नमो एअधम्मपरूवगाणं। नमो एअधम्मपवज्जगाणं ।।१३।।

अर्थ : इस भीषण मृत्यु का औषध धर्म है। धर्म एकान्त रूप से विशुद्ध है, महापुरुषों ने उसका सेवन किया है, प्राणी मात्र के लिए हितकारी है, निर्दोष है और परमानन्द का कारण है।

इस धर्म को नमस्कार करता हूँ। धर्म प्रकाशकों को नमस्कार करता हूँ। धर्म का पालन करने वालों को नमस्कार करता हूँ। धर्म की प्ररूपणा-व्याख्या करने वालो को नमस्कार करता हूँ। धर्म अंगीकार करने वालों को नमस्कार करता हूँ ।।१३।।

मूल - इच्छामि अहमिणं धम्मं पडिवज्जित्तए सम्मं मणवयणकायजोगेहिं। होउ समेअं कल्लाणं परमकल्लाणाणं जिणाणमणुभावओ ।।१४।।

इति साहुधम्मपरिभावणा सुत्तं सम्मत्तं ।।

अर्थ : मैं इस धर्म को मन वचन और काया के योगों से अंगीकार करने का अभिलाषी हूँ। परम कल्याणकारी अरिहन्त भगवंतों के प्रभाव से मुझे धर्म प्रतिरुचि रूप कल्याण की प्राप्ति हो ।।१४।।

साधु परिभावना सूत्र समाप्त ।।

मूल - सुप्पणिहाणमेवं चिंतिज्जा पुणो पुणो। एअधम्मजुत्ताणमववायकारी सिआ। पहाणं मोहच्छेअणमेअं। एवं विसुज्झमाणे भावणाए, कम्मापगमेणं उवेइ एअस्स जुग्गयं तहा संसारविरत्ते संविग्गे। भवइ, अममे अपरोवतावी, विसुद्धे विसुज्झमाणभावे ।।१५।।

।। बीअँ साहुधम्म परिभावणा सुत्तं समत्तं ।।

अर्थ : इस प्रकार विशुद्ध हृदय की एकाग्रता के साथ बार-बार चिन्तन करना

चाहिए। साथ ही, इस धर्म का सेवन करने वाले सन्तों-मुनिराजों के प्रति विनीत होकर उनकी आज्ञा में रहना चाहिए। मुनिवरों की आज्ञा का पालन मोह को छेदने का परम उपाय है। इस तरह भावना से विशुद्ध होता हुआ, तदावरणीय कर्मों के हट जाने पर साधु धर्म की योग्यता प्राप्त कर लेता है। फिर संसार के दोषों की भावना करता हुआ संसार से विरक्त और संविग्न हो जाता है। ममता से रहित किसी भी जीव को संताप न उत्पन्न करने वाला, ग्रंथि भेदादि के कारण विशुद्ध और निरन्तर विशुद्ध होते जाने वाले अध्यवसायों वाला बन जाता है ।।१५।।

।। दूसरा साधु धर्म परिभावना सूत्र समाप्त ।।

- *काजल की कोटडी में जाना पड़े दाग लगने न दे = महापुरुष।*
- *कषाय पर कषाय करे वह चतुर।*
- *कंचन को आत्मगुण मंचन माने वही मुनि।*
- *कैंची के समान, दुर्जन की जमात।*
- *करूंगा भाग्य के हाथ, करता हूँ अपने हाथ।*
- *लक्ष्मी के लिए कितनी की अपेक्षा कैसी की और लक्ष्य देना गुणकारी।*
- *मत सोचो उसने ऐसा क्यों किया? सोचो उसके कर्म ने करवाया।*
- *खाना और खिलाना दोनों में महत्त्व है खिलाने का।*
- *खो जाओ अपने आप में यही अरिहंत का आदेश है।*
- *आत्म रमणता यह तप धर्म, शेष तप क्रिया। (निश्चयनय)*
- *आहारसंज्ञा का दूर होना तप धर्म, शेष क्रिया (व्यवहारनय)*

- जयानन्द

पंच सूत्र

[तृतीय सूत्र]

प्रव्रज्याग्रहण - विधि

मूल - परिभाविए साहुधम्मे जहोदियगुणे जइज्जा सम्ममेअं पडिवज्जित्तए अपरोवतावो। परोवतावो हि तप्पडिवत्तिविग्घं। अणुपाओ खु एसो। न खलु अकुसलारंभओ हिअं।

अप्पडिबुद्धे कहिंचि पडिबोहिज्जा अम्मापियरे-उभयलोगसफलं जीविअं, समुदायकडा कम्मा समुदायफलत्ति एवं सुदीहो अविओगो। अण्णहा एकरुक्खनिवासिसउणतुल्लमेअं। उद्दामो मच्चू, पच्चासण्णो य। दुल्लहं मणुअत्तं समुद्दपडिअरयणलाभतुल्लं। अइप्पभूआ अण्णे भवा दुक्खबहुला मोहंधयारा अकुसलाणुबंधिणो अजुग्गा सुद्धधम्मस्स। जुग्गं च एअं पोअभूअं भवसमुद्दे, जुत्तं सकज्जे निउंजिउं संवरठइअच्छिद्दं नाणकण्णधारं तवपवणजवणं ॥१॥

अर्थ : पूर्व सूत्र में कथित विधि के अनुसार साधु धर्म की परिभावना से परिभावित होकर और पूवोक्त गुण प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधुधर्म को स्वीकार करने के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए। मगर ऐसा करते किसी (माता पितादि) को संताप उपजाना योग्य नहीं। **दूसरों को संताप होना साधुधर्म का स्वीकार करने में बाधक है।** दूसरों को संताप उत्पन्न करके साधुधर्म को प्राप्त करना यह तत्त्वतः हित का उपाय ही नहीं है, क्योंकि दूसरों को पीड़ा पहुँचाना अकुशल कार्य है और उससे किसी का हित नहीं हो सकता।

महासत्त्वों के माता पिता प्रायः अप्रतिबद्ध नहीं होते, तथापि कदाचित् माता-पिता प्रतिबोध पाये हुए न हों और उन्हें वियोग का संताप होता हो तो माता-पिता को भी संसार त्यागने के लिए प्रतिबोध दे कि-हमें जो यह जीवन मिला है वह इहभव और परभव को सफल बनाने से ही प्रशस्त होगा। हम लोग चारित्र की आराधना करेंगे तो अपना अवियोग (संयोग) लम्बे समय तक चालू रहेगा, क्योंकि समूह रूप से उपार्जन किये हुए शुभाशुभ कर्म सामूहिक रूप से ही फल प्रदान करते हैं। अगर हमने एकसी आराधना न की तो एक वृक्ष पर रात्रिवास करके प्रभात में बिछुड़ जाने वाले पक्षियों के समान हमारी स्थिति होगी - थोड़े काल के पश्चात् हम भी अलग-अलग गतियों में

चले जायेंगे और दीर्घ काल के लिए वियुक्त हो जायेंगे। मृत्यु बड़ी प्रबल है और वह दूर भी नहीं, क्योंकि हमारा आयुष्य अल्पकालीन है। समुद्र में पड़े हुए रत्न के समान पुनः मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है। मनुष्यभव के सिवाय दूसरे बहुत से भव हैं, किन्तु उनमें दुःखों की बहुलता है। वे मोह रूपी अंधकार वाले हैं, अशुभ कर्म बंध के कारण हैं और चारित्र रूपी शुभ धर्म की आराधना के लिए अयोग्य है। यह मनुष्यजीवन ही ऐसा है जो संसारसागर में ऐसे जहाज के समान है जिसके छिद्र संवर के द्वारा ढंक दिये गये हैं, ज्ञान जिसका कर्णधार (खिवैया) है और जो तपश्चर्या रूपी पवन के वेग से युक्त है। अतः इस मनुष्य भवरूपी नौका को धर्म रूपी आत्मकार्य में नियुक्त करना चाहिए।

(यहाँ प्राणातिपात विरमणादि रूप महाव्रत छिद्रों के ढक्कन हैं। श्रुतज्ञान में निरन्तर उपयोग रूप कर्णधार है और अनशनादि द्वादशविध तपश्चर्या का यथाशक्ति सेवनरूप अनुकूल पवन है।) ।।१।।

मूल - खणे दुल्लहे, सव्वकज्जोवमाईए सिद्धिसाहगधम्मसाहगत्तेण। उवादेआ य एसा जीवाणं। जं न इमीए जम्मो, न जरा, न मरणं, न इट्ठविओगो, नाणिट्ठसंपओगो, न खुहा, न पिवासा, न अण्णो कोई दोसो, सव्वहा अपरतंतं जीवावत्थाणं असुभरागाइरहिअं संतं सिवं अव्वाबाहं ति।।२।।

अर्थ : माता-पिता को यह भी समझावे कि ऐसा शुभ अवसर मिलना कठिन है। किसी भी कार्य के साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। यह अवसर सिद्धि के साधक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का साधक है। सिद्धि ही विवेकवान् जीवों के लिए उपादेय है, क्योंकि उसमें न जन्म है, न मरण है, न इष्ट वियोग है, न अनिष्ट संयोग है, न भूख है, न प्यास है और न कोई दूसरा दोष है। सर्वथा स्वाधीन, समस्त रागादि अशुभ भावों से रहित, शांत, शिवस्वरूप और सब प्रकार की बाधा पीड़ा से रहित है। ऐसी जीवों की वहां अवस्थिति है। (वह अवस्थान क्रोधादि से रहित होने के कारण शांत है, सकल अशिवों (प्लेग आदि रोगों) के अभाव के कारण शिव है और निष्क्रिय होने के कारण व्याबाधा रहित है।) ।।२।।

मूल - विवरीओ य संसारो इमीए, अणवट्ठिअसहावो इत्थ खलु सुही वि असुही, संतमसंतं, सुविणुव्व सव्वमालमालं ति। ता अलमित्थ पडिबंधेणं। करेह मे अणुग्गहं। उज्जमह एअं वुच्छिंदित्तए। अहंपि तुम्हाणुमईए साहेमि एअं निव्विण्णो जम्ममरणेहिं। समिज्झइ य मे समीहिअं गुरुप्पभावेणं ।।३।।

अर्थ : संसार इससे विपरीत स्वभाव वाला है अर्थात् जन्म, जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पराधीनता आदि अनेक दुःखों का घर है। इसमें कहीं कोई स्थिरता नहीं है। संसार में जो सुखी कहलाता है, वह भी कुछ क्षणों के पश्चात् दुःखी

हो जाता है। ज़ो सुख सामग्री अभी है वह क्षण भर बाद नहीं है। सब कुछ स्वप्न के समान मिथ्या है। अतएव ऐसे संसार में आसक्त होना उचित नहीं है। हे माता-पिता! मुझ पर अनुग्रह कीजिए और आप भी भवभ्रमण के अन्त करने का उद्यम कीजिए! आप भी प्रव्रज्या ग्रहण कीजिए। मैं भी आपकी अनुमति से मुक्ति की साधना करूं, क्योंकि मैं जन्म मरण से घबरा उठा हूँ। गुरुप्रसाद से मेरा मनोरथ पूरा होगा ।।३।।

मूल - एवं सेसे वि बोहिज्जा, तओ सममेएहिं सेविज्ज धम्मं। करिज्जोचिअकरणिज्जं निरासंसो उ सव्वदा। एअं परममुणिसासणं ।।४।।

अर्थ : माता पिता को इस प्रकार प्रतिबोध देने के पश्चात् दूसरें-पत्नी पुत्र आदि को भी उसी प्रकार प्रतिबोध दे। तत्पश्चात् इन सब के साथ धर्म का सेवन करे। सर्वदा निराशंस रहकर महाव्रतादि उचित कर्तव्यों का पालन करे। यही परममुनि सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा है ।।४।।

मूल - अबुज्झमाणेसु अ कम्मपरिणईए विहिज्जा जहासत्तिं तदुवगरणं आओवायसुद्धं समईए। कयण्णुआ खु एसा करुणा य धम्मप्पहाणजणणी जणम्मि। तओ अणुण्णाए पडिवज्जिज्ज धम्मं ।।५।।

अर्थ : कदाचित् कर्म दोष से माता-पिता आदि को प्रतिबोध प्राप्त न हो तो अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार उनके जीवननिर्वाह की व्यवस्था करे। वह आय-उपाय अपनी समझ के अनुसार शुद्ध होना चाहिए। यह उस मुमुक्षु पुरुष की कृतज्ञता और करुणा है। इस प्रकार की कृतज्ञता और करुणा लोक में धर्म की प्रधान जननी होती है। (शासन की उन्नति करती है।) इतना करने के बाद साधुधर्म को अंगीकार करना चाहिए ।।५।।

मूल - अण्णहा अणुवहे चेव उवहिजुत्ते सिआ। धम्माराहणं खु हिअं सव्वसत्ताणं, तहा तहेअं संपाडिज्जा। सव्वहा अपडिवज्जमाणे चइज्जा ते अट्ठाणगिलाणोसहत्थचागनाएणं ।।६।।

अर्थ : यदि माता-पिता आदि स्वजन मोह की प्रबलता आदि के कारण प्रव्रज्या महा धर्म अंगीकार करने की अनुमति न दें तो हृदय से मायारहित होते हुए भी ऊपर से माया का सेवन करके भी अनुमति प्राप्त करे, क्योंकि प्राणी मात्र के लिए धर्म की आराधना ही हितकर है। अतएव कोई भी उपाय करके धर्म की आराधना करनी चाहिए। सब उपाय कर लेने के बाद भी माता-पिता आदि न मानें तो **'अस्थान-ग्लान-औषधार्थत्याग'** न्याय से उनका त्याग करके दीक्षा अंगीकार कर ले। वह न्याय इस प्रकार है - ।।६।।

मूल - से जहानामए केइ पुरिसे कहंचि कंतारगए अम्मापिइसमेए

तप्पडिबद्धे वच्चिज्जा। तेसिं तत्थ [1]नियमघाई पुरिसमित्तासज्झे संभवओसहे महायंके सिआ। तत्थ से पुरिसे तप्पडिबंधाओ एवमालोचिय 'न भवंति एए नियमओ ओसहमंतरेण, ओसहभावे अ संसओ, कालसहाणि अ एआणि' तहा संठविअ संठविअ तदोसहनिमित्तं सवित्तिनिमित्तं च चयमाणे साहू। एस चाए अचाए। अचाए चेव चाए। फलमित्थ पहाणं बुहाणं। धीरा एअदंसिणो। स ते ओसहसंपायणेणं जीवाविज्जा। संभवओ पुरिसोचिअमेअं ।।७।।

अर्थ : कोई पुरुष किसी प्रकार जंगल में जा पहुंचा। वह अपने माता-पिता के साथ जा रहा है। उस अटवी में अचानक माता-पिता को ऐसी महा बीमारी आयी जो चिकित्सा के अभाव में निश्चित रूप से उनके प्राणों का घात करने वाली है। औषध के बिना वह महा रोग मिट नहीं सकता अर्थात् अकेला पुत्र कुछ प्रतीकार नहीं कर सकता, मगर समय पर औषध मिल जाने से बिमारी दूर होना संभवित है।

ऐसी स्थिति में वह पुरुष विचार करता है - अगर औषध न मिला तो माता-पिता बच नहीं सकते। औषध मिलने पर बचने की संभावना है और ये अभी कुछ समय तक जीवित रह सकते हैं। ऐसा विचार करके वह उनको औषध के लिए और उनके निर्वाह की व्यवस्था के लिए अगर उन्हें छोड़कर चला जाता है, तो अच्छा ही करता है। माता-पिता का यह त्याग अत्याग ही है, क्योंकि इससे उनके जीवन की रक्षा की संभावना है। ऐसे समय उनका त्याग न करना ही वस्तुतः त्याग है, क्योंकि त्याग न करने से उनकी मृत्यु होगी और सदा के लिए त्यागना पड़ेगा। **किसी भी प्रवृत्ति का मूल्यांकन उसके फल से होता है।** धीर-पंडित पुरुष प्रवृत्ति के फल को ही देखते हैं। वह पुरुष औषध लाकर माता-पिता को बचा सकता है, अतः उसे ऐसा करना ही उचित है ।।७।।

मूल - एवं सुक्कपक्खिए महापुरिसे संसारकंतारपडिए अम्मापिइसंगए धम्मपडिबद्धे विहरिज्जा। तेसिं तत्थ निअमविणासगे, अपत्तबीजाइपुरिसमेत्तासज्झे, संभवंतसम्मत्ताइओसहे, मरणाइविवागे, कम्मायंके सिआ। तत्थ से सुक्कपक्खिए पुरिसे धम्मपडिबंधाओ, एवं समालोचिअ'विणस्संति एए अवस्सं सम्मत्ताइ-ओसहविरहेण, तस्ससंपाडणे विभासा। कालसहाणि अ एआणि ववहारओ।' तहा संठविअ संठविअ इहलोगचिंताए, तेसिं सम्मत्ताइओसहनिमित्तं विसिट्ठगुरुमाइभावेण, सवित्तिनिमित्तं च, किच्चकरणेणं चयमाणे संजमपडिवत्तीए साहू सिद्धीए। एस चाए अचाए तत्तभावणाओ, अचाए चेव चाए, मिच्छाभावणाओ। तत्तफलमित्थ पहाणं। परमत्थओ धीरा एअदंसिणो आसन्नभव्वा।

---

१ नियमव्वाई

स ते सम्मत्ताइओसहसंपाडणेण जीवाविज्जा अच्चं तिअं। अमरणा-वंझबीअजोगेणं। संभवाओ सुपुरिसोचिअमेअं दुप्पडिआराणि अ अम्मापिईणि। एस धम्मो सयाणं। भगवंइत्थ नायं परिहरमाणे अकुसलाणबंधि अम्मापिइसोगं ति॥८॥

अर्थ : पूर्वोक्त दृष्टान्त का उपसंहार-इसी प्रकार कोई शुक्लपाक्षिक[1] महापुरुष संसाररूपी अटवी में पड़ा हुआ है और माता-पिता आदि का सहवास होने पर भी धर्म के प्रति अनुरागी होकर विचरता है। उसके माता पिता आदि कर्म रूपी व्याधि से पीड़ित हैं। यह व्याधि निश्चित रूप से उनके प्राणों को हरण करने वाली है। बोधि बीज (सम्यक्त्व) आदि के संपादन के बिना अकेले पुरुष से वह टल नहीं सकती। किन्तु सम्यक्त्वादि औषध से उस व्याधि का निवारण किया जा सकता है। मृत्यु आदि उस व्याधि का फल है। धर्मानुरागी होने के कारण वह शुक्ल पक्षी जीव विचार करता है कि अगर इन (माता-पिता) का सम्यक्त्व आदि रूपी औषध से उपचार न किया गया तो निस्सन्देह इन्हें मरण आदि का पात्र बनना पड़ेगा। औषध मिलने से बच सकते हैं। व्यवहार से देखते हुए ज्ञात होता है कि माता-पिता अभी कुछ समय निकाल सकते हैं-जी सकते हैं। अतएव इस बीच मैं चारित्र अंगीकार कर लूँ फिर इनके लिए सम्यक्त्वादि औषध ले आऊंगा। उस औषध से इन्हें भाव जीवन की प्राप्ति होगी और ये भव अटवी से पार हो जायेंगे और मेरा भी उद्धार हो जायेगा। इस प्रकार विचार करके वह शुक्लपाक्षिक जीव माता-पिता आदि परिवार के निर्वाह की आवश्यकताओं को यथाशक्ति सुन्दर रीति से पूर्ण करके, उनके साथ विशिष्ट गुर्वादि का योग करवाकर, उन्हें सम्यक्त्व आदि औषध प्राप्त कराने के लिए तथा अपनी संयम रूपी वृत्ति के लिए उचित कृत्य करने के हेतु से चारित्र ग्रहण करे। इस तरह वह सिद्धि का साधक माता-पितादि का त्याग करे। तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार त्याग देना ही न त्याग देना है, बल्कि न त्यागना ही त्यागना है। इस विषय में तत्त्व फल ही प्रधान है। धीर और आसन्नभव्य जीव पारमार्थिक दृष्टि से फल को ही देखते हैं।

इस प्रकार वह शुक्लपक्षी जीव सम्यक्त्व आदि औषध लाकर उन्हें शाश्वत अमरत्व प्रदान करता है, क्योंकि सम्यक्त्वादि ही मृत्यु को जीतने का अमोघ उपाय है, अतएव सत्पुरुष के लिए यही करना उचित है। माता-पिता के उपकार का बदला चूकाना बहुत कठिन है, परन्तु बदला चूकाना सत्पुरुषों का धर्म है। भगवान महावीर इस विषय में उदाहरण हैं। मातादि को अशुभ कर्मों का बन्ध न हो इसलिए माता पिता

१. जिसका भवभ्रमण कम रह गया है अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन से भी कुछ कम समय में जो मुक्ति प्राप्त करने वाला है, वह शुक्लपक्षी जीव कहलाता है।

के शोक का उन्होंने परिहार किया था। अर्थात् भगवान ने गर्भ में रहते हुए यह अभिग्रह किया था कि इनके जीते जी मैं दीक्षा नहीं लूंगा अन्यथा इन्हें अकुशलानुबन्धि शोक होगा ।।८।।

मूल - एवं अपरोवतावं सव्वहा, सुगुरुसमीवे पूइत्ता भगवंते वीअरागे साहू अ, तोसिऊण विहवोचिअं किवणाई, सुप्पउत्तावस्सए, सुविसुद्धनिमित्ते समहिवासिए, विसुज्झमाणो महया पमोएणं सम्मं पव्वइज्जा लोअधम्मेहिंतो लोगुत्तरधम्मगमणेण ।

एसा जिणाणमाणा 'महाकल्लाण' त्ति न विराहिअव्वा बुहेणं महाणत्थभयाओ सिद्धिकंखिणा ।।९।।

।। तइअं पव्वज्जागहणविहिसुत्तं समत्तं ।।

अर्थ : इस प्रकार, किसी को किसी भी प्रकार से संताप न देते हुए, सद्‌गुरु के समीप जाकर, वीतराग भगवान और साधुओं की पूजा भक्ति करके अपने वैभव के अनुसार दीन अनाथों को दान देकर सन्तुष्ट करके मुनि वेश पहनकर सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं को भलि भांति सम्पादन करके अत्यन्त विशुद्ध निमित्त (शकुन आदि) पाकर सद्‌गुरु द्वारा मंत्रित वासक्षेप से सम्यक् प्रकार से अभिवासित होकर महान् हर्ष से निरन्तर विशुद्ध होते हुए हृदय के साथ, लौकिक कर्त्तव्यों से पृथक् होकर लोकोत्तर धर्म में प्रवेश करके शास्त्रोक्त विधि से प्रव्रजित हो जाय।

जिनेश्वर भगवान की यह आज्ञा है। यह आज्ञा महान् कल्याण का कारण है। विवेकवान मुमुक्षु जीव को आज्ञा की विराधना से उत्पन्न होने वाले घोर अनर्थ से डरकर इस आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। क्योंकि आज्ञा की विराधना से बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है। आज्ञा की आराधना ही मोक्ष मार्ग है ।।९।।

।। तीसरा प्रव्रज्याग्रहणविधिसूत्र समाप्त ।।

- *प्रथम शिष्य बनो फिर गुरु बन सकोगे।*
- *ऊँचे जाना है आराधना, नीचे जाना है विराधना।*

- जयानन्द

पंच सूत्र

[चतुर्थ सूत्र]

प्रव्रज्या - परिपालना

मूल - स एवमभिपव्वइए समाणे सुविहिभावओ किरियाफलेण जुज्जइ। विसुद्धचरणे महासत्ते न विवज्जयमेइ। एअअभावे अभिप्पेअसिद्धि उवायपवित्तिओ। नाविवज्जत्थोऽणुवाए पयट्टइ। उवाओ अ उवेअसाहगो नियमेणं। तस्स तत्तच्चाओ अण्णहा, अइप्पसंगाओ, *निच्छयमयमेअं* ॥१॥

अर्थ : मुमुक्षु जीव पूर्व सूत्र में कथित विधि के अनुसार दीक्षा अंगीकार करके, समीचीन विधि-संपादन के कारण क्रिया के फल को प्राप्त करता है। क्योंकि वह क्रिया साधकक्रिया हुई है। विशुद्ध (निरतिचार) चारित्र वाला महात्मा होने से वह मुमुक्षु विपरीतता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके ज्ञान और आचार में किसी प्रकार का विपर्यास नहीं होता। विपरीतता न होने की वजह से सम्यग् उपाय में प्रवृत्ति होने से वांछित की सिद्धि होती है, जो विपर्यास को प्राप्त नहीं है, वह उपाय को छोड़कर अनुपाय (उपायाभास) में प्रवृत्ति नहीं करता। और उपाय (कारण) उपेय (कार्य) का नियम से साधक होता है। अगर उपाय उपेय को सिद्ध न करे तो वह अपने स्वरूप का ही त्याग करे अर्थात् वह उपाय ही न रहे। क्योंकि अतिप्रसंग दोष आता है। कार्य का साधक न होने पर भी किसी को कारण मान लिया जाय तो किसी को भी किसी का कारण मान लेना होगा और फलतः कार्यकारण-भाव की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। **यह निश्चयनय का मत है। इसे सूक्ष्मबुद्धि पुरुष ही अच्छी तरह समझ सकते हैं** ॥१॥

मूल - से समलिट्ठुकंचणे समसत्तुमित्ते निअत्तग्गहदुक्खे पसमसुहसमेए सम्मं सिक्खमाइअइ। गुरुकुलवासी गुरुपडिबद्धे विणीए भूअत्थदरिसो 'न इओ हिअं तत्तं' ति मन्नइ। सुस्सूसाइगुणजुत्ते तत्ताभिनिवेसा विहिपरे परममंतो त्ति अहिज्जइ सुत्तं बद्धलक्खे आसंसाविप्पमुक्के आययट्ठी। स तमवेइ सव्वहा। तओ सम्मं निउंजइ। एयं धीराण सासणं ॥२॥

अर्थ : वह दीक्षित साधक पाषाण और स्वर्ण में तथा शत्रु और मित्र में समान दृष्टि वाला, आग्रह के दुःख से रहित (मिथ्या अभिनिवेश से होने वाली पीड़ा परेशानियों से रहित) तथा प्रशम के सुख से युक्त होकर ग्रहण और आसेवन रूपी शिक्षा

को सुन्दर रीति से प्राप्त करता है। वह गुरुकुलवासी, गुरु के प्रति अनुरागी, विनयवान, परमार्थदर्शी साधक, 'गुरुकुल वास से बढ़कर अन्य हितकर तत्त्व नहीं' ऐसा मानता है। वह शुश्रूषा आदि वृद्धि के आठ गुणों से सम्पन्न हो तत्त्व के प्रति आग्रहशील होने से विधि तत्पर बनकर साधु-कर्त्तव्य में अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है और इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी कामनाओं से रहित एवं मोक्ष का अभिलाषी होकर सूत्रों को रागद्वेष विष के निवारक परम मंत्र समझकर उनका अध्ययन करता है। वह सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है। ऐसे ही ज्ञान से सम्यक् प्रकार सूत्र का नियोग करता है, यानी उसको व्यवहार में लाता है। सूत्र को इस प्रकार विधिपूर्वक जाना हुआ ही सम्यग् नियुक्त किया हुआ कहा जाता है, ऐसा तीर्थंकरादि धीर पुरुषों का शासन यानि फरमान है ।।२।।

मूल - अण्णहा अणिओगो अविहिगहियमंतनाएण। अणाराहणाए न किंचि, तदणारंभाओ धुवं। इत्थ मग्गदेसणाए दुक्खं अवधीरणा अप्पडिवत्ती। नेवमहीअं अहीअं अवगमविरहेणं। न एसा मग्गगामिणो विराहणा अणत्थमुहा, अत्थहेऊ तस्सारंभाओ धुवं। इत्थ मग्गदेसणाए अणभिनिवेसो पडिवत्तिमित्तं किरिआरंभो। एवं पि अहीअं अहीअं अवगमलेसजोगओ। अयं सबीओ निअमेण। मग्गगामिणो खु एसा अवायबहुलस्स। निरवाए जहोदिए सुत्तुत्तकारी हवइ पवयणमाइसंगए पंचसमिए तिगुत्ते ।।३।।

अर्थ : अन्यथा अर्थात् अविधि से सूत्र का अध्ययन करने से अविधिगृहीत मंत्र के दृष्टान्तानुसार अनियोग (सदुपयोग का अभाव) होता है। अविधि से मंत्र ग्रहण किया जाय तो उन्माद, ग्रहपीड़ा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। यदि बिलकुल आराधना ही न की जाय तो अध्ययन का आरंभ ही न करने के कारण निश्चित है कि कुछ भी शुभ या अशुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसे अनाराधक के समक्ष अगर तात्त्विक मार्गदेशना की जाय तो क्षुद्र जीव के सामने सिंहनाद की तरह उसे दुःख उत्पन्न होता है। यदि वह कुछ लघुकर्मी हो तो उसे दुःख नहीं होता, किन्तु उस देशना की वह अवगणना-अवधीरणा करता है उसे तुच्छ गिनता है। यदि वह अधिक लघुकर्मी हो तो उसे दुःख भी नहीं होता और उसके द्वारा अवगणना भी नहीं होती, किन्तु वह देशना को स्वीकार नहीं करता। **इस प्रकार मार्ग की अनाराधना के द्वारा किया हुआ सूत्र का अध्ययन तात्त्विक अध्ययन ही नहीं है, क्योंकि वह सम्यग् ज्ञान से रहित होता है।** मार्गगामी साधक को एकान्तः पूर्वोक्त अनाराधना नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होने से वह सर्वथा सत्क्रिया में प्रवृत्ति करता है। उसे अध्ययन में सम्भवित विराधना मार्गगामी को कंटकादिवत् अनर्थकर होने पर भी निश्चित मोक्षगमन के आरंभ वाली ही होने से अर्थहेतु यानी परम्परा से मोक्ष का अंग होती है, क्योंकि विराधना होने पर भी तात्त्विक मार्गदेशना

सुनने पर उसे हेय-उपादेय के विषय में अभिनिवेश कदाग्रह नहीं होता। अल्प विराधना वाला तो मात्र अनभिनिवेश नहीं किन्तु उसे अंगीकार भी कर लेता है और कोई अल्पतर विराधना वाला मात्र स्वीकार तो क्या! क्रिया करना भी आरंभ कर देता है। इस प्रकार विराधना होने पर भी मार्गगामी के सूत्र का अध्ययन, अध्ययन ही है, क्योंकि उसमें सम्यग्ज्ञान के अंश का योग होता है।

पूर्वोक्त विराधक नियम से बीज अर्थात् सम्यक्त्व से युक्त होता है, क्योंकि यह विराधना सिर्फ अनिरुपक्रम क्लिष्ट कर्म वाले मार्गगामी को ही हो सकती है। जो क्लिष्ट कर्म से रहित है, वह सबीज यथोक्त मार्गगामी हो सूत्रोक्त क्रिया करने वाला, अष्ट प्रवचनमाता से युक्त अर्थात् पांच समितियों और तीन गुप्तियों से सम्पन्न होता है।।३।।

मूल - अणत्थपरे एअच्चाए अविअत्तस्स सिसुजणणीचायनाएण। विअत्ते इत्थ केवली एअफलभूए। सम्ममेअं विआणइ दुविहाए परिण्णाए ।।४।।

अर्थ : अष्ट प्रवचनमाता का त्याग अव्यक्त अपरिपक्व (भाव से बाल) जीव के लिए उसी प्रकार अनर्थकारी होता है जिस प्रकार कोई छोटा बालक अपनी जननी का परित्याग कर दे। व्यक्त तो प्रस्तुत में प्रवचनमाता के फल स्वरूप केवली भगवान ही हैं। वे ही दोनों प्रकार की परिज्ञा (ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा) से यह सब भली भांति जानते हैं। यहां ज्ञ परिज्ञा अवबोध रूप है। और प्रत्याख्यान परिज्ञा ज्ञान सहित क्रिया रूप है ।।४।।

मूल - तहा आसासपयासदीवं संदीणाऽथिराइभेअं, असंदीणथिरत्थमुज्जमइ जहासत्तिं असंभंते अणूसगे असंसत्तजोगाराहए भवइ। उत्तरुत्तरजोगसिद्धीए मुच्चइ पावकम्मुण त्ति विसुज्झमाणे आभवं भावकिरिअमाराहेइ, पसमसुहमणुहवइ, अपीडिए संजमतवकिरिआए, अव्वहिए परीसहोवसग्गेहिं वाहिअसुकिरिआनाएणं।।५।।

अर्थ : वह प्रव्रजित हुआ साधु जानता है कि संसार सागर में भ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए चारित्र, और मोहान्धकार युक्त दुःखार्णव में पतित जीवों के लिए ज्ञान, दीव (द्वीप तथा दीप) के समान है, अर्थात् चारित्र आश्वासन (स्थिराश्रय) देने के कारण द्वीप के समान है और ज्ञान मोह मिथ्यात्व रूपी अंधकार को दूर करने के कारण दीपक के समान है। द्वीप दो प्रकार का होता है जल की तरंगों से डूब जाने वाला और नहीं डूबने वाला। इसी प्रकार दीप भी दो प्रकार का होता है स्थिर और अस्थिर। क्षायोपशमिक चारित्र और ज्ञान अस्थिर-डूब जाने वाले द्वीप और बुझ जाने वाले दीप के समान है और क्षायिक चारित्र तथा ज्ञान क्रमशः कभी न डूबने वाले द्वीप के समान और स्थिर दीप (रत्न द्वीप) के समान है। वह मुनि इनमें से न डूबने वाले द्वीप (क्षायिक चारित्र) और

स्थिर दीप (क्षायिक ज्ञान) को प्राप्त करने का यथाशक्ति उद्यम करता है और भ्रान्ति रहित योग समाप्ति की अनुचित त्वरा एवं फल प्राप्ति की उत्सुकता से रहित हो श्रमण जीवन के योगों की परस्पर में अबाधक आराधना करता है। उत्तरोत्तर उन धर्म-योगों की सिद्धि के द्वारा तत्तद्गुण के प्रतिबन्धक पाप कर्मों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार विशुद्ध परिणाम वाला होता हुआ जीवनपर्यन्त औचित्यारम्भपालन स्वरूप मोक्षसाधक भावक्रिया का आराधक बनता है। तब वह लोकोत्तर प्रशम-सुख का अनुभव करने लगता है, तप और संयम की क्रियाएं उसे पीड़ा नहीं पहुँचातीं और परीषह एवं उपसर्ग उसे व्यथित नहीं कर सकते। यह बात रोगी पुरुष से रोगशमन के लिए की जाने वाली सम्यक् चिकित्सा के उदाहरण से जाननी चाहिए ।।५।।

मूल - से जहानामए केई महावाहिगहिए अणुहूअतव्वेअणे विण्णाया सरुवेण निव्विण्णो तत्तओ, सुविज्जवयणेण सम्मं तमवगच्छिअ जहाविहाणओ पवण्णे सुकिरिअं। निरुद्धजहिच्छाचारे तुच्छपत्थभोई मुच्चमाणे वाहिणा निअत्तमाणवेअणे समुवलब्भारोग्गं पवड्ढमाणतब्भावे तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधाओ सिराखाराइजोगे वि वाहिसमारुग्गविण्णाणेण इट्ठनिप्फत्तीओ अणाकुलभावयाए किरिओवओगेण अपीडिए अव्वहिए सुहलेस्साए वड्ढइ विज्जं च बहु मण्णइ।।६।।

अर्थ : जैसे कि कोई अमुक नाम वाला पुरुष किसी कुष्ठादि महा व्याधि से ग्रस्त था। उस महा-व्याधि की वेदना का अनुभव करके उस व्याधि के सही स्वरूप को जानने वाला वह वास्तव में उससे खिन्न हो गया। फिर किसी अच्छे वैद्य के कहने से सम्यक् प्रकार से उस व्याधि को जानकर वह विधि के अनुसार देव पूजादि करके रोग पकाने इत्यादि सत्क्रिया में प्रवृत्त हुआ। अब वह स्वेच्छाचार को त्याग देता है, व्याधि के मुताबिक हलका पथ्य भोजन करता है। तब वह जैसे जैसे व्याधि से मुक्त होता है वैसे वैसे उसकी वेदना दूर होने लगती है। फिर खाज वगैरह पीड़ा की शान्ति होने से इतना आरोग्य प्राप्त हुआ देखकर उसकी आरोग्य के प्रति अभिलाषा बढ़ती जाती है। कुछ आरोग्य की प्राप्ति होने पर अधिक आरोग्य के विषय में उसकी लगन लग जाने से वह शिरावेध (नसों को बींधना) और क्षार आदि का योग होने पर भी इसी से व्याधि के उपशम द्वारा आरोग्य की प्राप्ति होगी वैसा वह जानता है। मनोवांछित की प्राप्ति होने से उन शिरावेध आदि में व्याकुलता किये बिना, उपचार सम्बन्धी क्रिया के प्रयोग से शारीरिक कष्ट का खयाल न करकै और मन में भी व्यथा का अनुभव न करके, शुभ लेश्या (अध्यवसाय) से बढ़ता ही चला जाता है और वैद्य का बहुमान करता है ।।६।।

मूल - एवं कम्मवाहिगहिए, अणुभूअ-जम्माइवेअणे, विण्णाया दुक्खरुवेणं,

निव्विण्णे तत्तओ तओ सुगुरुवयणेण अणुट्ठाणाइणा तमवगच्छिअ, पुव्वुत्तविहाणओ पवन्ने सुकिरियं पव्वज्जं, निरुद्धपमायाचारे असारसुद्धभोई, मुच्चमाणे कम्मवाहिणा, निअत्तमाणिट्ठविओगाइवेअणे, समुवलब्भ चरणारुग्गं, पवड्ढमाणसुहभावे, तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधविसेसओ, परीसहोवसग्गभावे वि तत्तसंवेअणाओ, कुसलासयवुड्ढी थिरासयत्तेण, धम्मोवओगाओ सया थिमिए, तेउल्लेस्साए पवड्ढइ। गुरुं च बहुमन्नइ जहोचिअं असंगपडिवत्तीए निसग्गपवित्तिभावेण।

एसा गुरुई विआहिआ, भावसारा विसेसओ भगवंतबहुमाणेणं। 'जो मं पडिमन्नइ से गुरु' ति तदाणा। अन्नहा, किरिआ अकिरिआ, कुलडा(टा) नारीकिरिआसमा, गरहिआ तत्तवेईणं अफलजोगओ। विसण्णतत्तीफलमित्थ नायं। आवट्टे खु तप्फलं, असुहाणुबंधे ॥७॥

अर्थ : इसी प्रकार कर्म रूपी व्याधि से ग्रस्त जीव जन्म-जरा-मरण आदि की वेदना का अनुभव कर चूका है, उस वेदना को दुःखरूप जानकर जो वास्तव में उससे उद्विग्न हो जाता है। वह सद्गुरु की वाणी सुनकर अनुष्ठानादि द्वारा कर्म व्याधि के स्वरूप को पहचान करके, पूर्वोक्त विधि के अनुसार सम्यक् चिकित्सा क्रिया स्वरूप प्रव्रज्या को अंगीकार करता है। फिर स्वेच्छा से प्रमाद-सेवन को त्याग संयमानुकूल अन्त प्रान्त (रुखा-सूखा) और निर्दोष आहार करके ज्यों-ज्यों कर्म व्याधि से मुक्त होता जाता है, त्यों-त्यों मोह के हटने से इष्ट वियोग अनिष्ट-संयोग आदि द्वारा उत्पन्न होने वाली वेदना दूर होती जाती है, अर्थात् उन वेदना का अनुभव वह नहीं करता। सम्यक् स्वानुभव से चारित्र रूपी आरोग्य का संवेदनकर उसे अधिक चारित्र-आरोग्य की रुचि बढ़ती है। कर्म व्याधि के बहुत से विकारों से निर्वृत्त होने के कारण चारित्र रूपी आरोग्य का कतिपय लाभ संपादित होने से वह चारित्रारोग्य के प्रति विशेष आग्रहशील बनता है। अतएव क्षुधादि परीषह और दिव्य आदि उपसर्ग आने पर भी (१) तत्त्व संवेदन यानी सम्यक् ज्ञान होने से, तथा (२) क्षायोपशमिक भाव रूपी कुशलाशय (शुभ भाव) की वृद्धि होने के कारण चित्त की स्थिरता होने से एवं (३) अमुक समय अमुक क्रिया करनी है ऐसी इतिकर्त्तव्यता की जागृति होने से और (४) सदा राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित (प्रशान्त) होने से उसकी शुभ प्रभाव रूपी तेजोलेश्या बढ़ती चली आती है, एवं भाव वैद्य समान गुरु का उचित रूप से और निःसंगभाव से (स्वार्थ या दृष्टिराग से नहीं, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से) बहुमान करता है।

ऐसे निःसङ्ग भाव से गुरु का स्वीकार (प्रतिपत्ति) उसकी सहज प्रवृत्ति बन जाती है। ऐसी गुरु की प्रतिपत्ति बहुत उच्चकोटि की और महत्त्वपूर्ण कही गयी है, क्योंकि इसमें कोई लोभादि औदयिक भाव न होने से वह विशेषतया असङ्ग प्रतिपत्ति है,

भावप्रधान है, और यह भी कारण है कि उसमें अचिंत्य चिन्तामणि तुल्य भगवान के प्रति बहुमान (ममत्व) निहित है, क्योंकि भगवान की ऐसी आज्ञा है कि जो मुझे भाव से स्वीकार करता है, वह गुरु को स्वीकार करता ही है। स्वीकार का तत्त्व इस प्रकार व्यवस्थित है। अन्यथा गुरु को स्वीकार किये बिना या गुरु का बहुमान किये बिना जो प्रतिलेखना आदि क्रिया की जाती है, वह वास्तव में अक्रिया (असत्क्रिया) है। वह कुलटा नारी की उपवास क्रिया के समान स्वच्छन्द क्रिया होने से तत्त्व ज्ञानियों द्वारा निन्दित है। ऐसी क्रिया निष्फल या इष्ट मोक्ष की अपेक्षा अन्य सांसारिक फल वाली होती है। विष मिश्रित अन्न खाने से होने वाली विपाकदारुण तृप्ति रूपी फल के समान वह क्रिया विराधनासेवन से अनिष्ट एवं तुच्छ फल ही प्रदान करती है। अशुभ कर्म के अनुबंध वाला आवर्त यानी भवभ्रमण ही उस विराधना स्वरूप विष का फल है।।७।।

मूल - आयओ गुरुबहुमाणो अवंझकारणत्तेण। अओ परमगुरुसंजोगो। तओ सिद्धी असंसयं। एसेह सुहोदए पगिट्ठतयणुबंधे भववाहितेगिच्छी। न इओ सुन्दरं परं। उवमा इत्थ न विज्जइ।

स एवं पण्णे एवं भावे, एवं परिणामे, अप्पडिवडिए, वड्ढमाणे तेउल्लेस्साए दुवालसमासिएणं परिआएणं अइक्कमइ सव्वदेवतेउल्लेसं, एवमाह महामुणी।।८।।

अर्थ : **गुरु का बहुमान ही, मोक्ष का अमोघ कारण होने से, मोक्षरूप है।** गुरु का बहुमान करने से परमगुरु (परमात्मा-तीर्थङ्कर) का संयोग होता है। उससे निःसंशय सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है। इसलिए गुरु का बहुमान खुद शुभोदय का कारण होने से शुभोदय है, और वह भी तथा आराधन के उत्कर्षवश प्रधान शुभोदय की परंपरा वाला एवं भवव्याधि की चिकित्सा करने वाला होता है। अतः **गुरु बहुमान से बढ़कर सुन्दर अन्य कुछ भी नहीं है।** भगवान तीर्थङ्कर के प्रति बहुमान इसमें अन्तःप्रविष्ट होने की वजह प्राप्त सौन्दर्य से वास्तव में इसकी कोई उपमा ही नहीं है।

वह दीक्षित साधु निर्मल विवेक के कारण इस प्रकार की बुद्धि वाला, प्रकृति से ही इस प्रकार के भाव वाला और कर्म के क्षयोपशम वश इसी प्रकार के परिणाम वाला होता है। वह संयम से च्युत न होता हुआ, शुद्ध प्रभाव रूपी तेजोलेश्या से अवश्य वृद्धि पाता हुआ, सिर्फ बारह महीनों की दीक्षा पर्याय से ही समस्त देवों की तेजोलेश्या (सुख) को लांघ जाता है, अर्थात् उसे अलौकिक चित्त प्रशमसुख प्राप्त हो जाता है, महामुनि भगवान महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है ।।८।।

मूल - तओ सुक्के सुक्काभिजाई भवइ। पायं छिण्णकम्माणुबंधे खवइ लोगसण्णं। पडिसोअगामी अणुसोअनिवित्ते, सया सुहजोगे एस जोगी विआहिए।

एस आराहगे सामण्णस्स, जहागहिअपइण्णे, सव्वोवहासुद्धे, संघइ सुद्धगं भवं सम्मं अभवसाहगं भोगकिरिया सुरूवाइकप्पं। तओ ता संपुण्णा पाउणह अविगलहेउभावओ असंकिलिट्ठसुहरूवाओ अपरोवताविणो सुन्दरा अणुबंधेणं। न य अण्णा संपुण्णा ॥९॥

अथ : तत्पश्चात् वह महामुनि 'शुक्ल' अर्थात् अखंड चारित्र वाला, मात्सर्यरहित, कृतज्ञ, शुभ आरंभ वाला और हितपरिणामवान् तथा 'शुक्लाभिजात्य' अर्थात् उन अखण्ड चारित्रादि गुणों की प्रधानता वाला होकर कर्मानुबन्ध की छिन्न-सी अवस्था वाला बन जाता है। वह भगवद्वचन से प्रतिकूल लोकसंज्ञा को जीत लेता है। लोकसंज्ञा यह बहुत भव्य जीवों की प्रवृत्ति पर प्रीति स्वरूप है। इसे जीत लेने पर वह प्रतिस्त्रोतगामी हो जाता है और अनुस्त्रोत से निवृत्त हो जाता है, अर्थात् लोकाचार स्वरूपी नदी प्रवाह का अनुसरण नहीं करता, संसार के रसिक जीवों की सुलभ संसारवर्धक प्रवृत्तियों से विमुख हो जाता है। उसके योग सदैव शुभ यानी श्रमणता की चर्चा से युक्त होते हैं। ऐसे साधक को ही भगवान् ने 'योगी' कहा है यही संयम का वास्तव में आराधक है और प्रारम्भ से सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला होने से ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का यथार्थ पालक है और निरतिचार साधक होने से सर्वोपाय-शुद्ध या सर्वपरीक्षाशुद्ध वह साधु अभव (मोक्ष) साधक शुद्ध भव का संधान करता है, अर्थात् चरम भव प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करता है, क्योंकि जैसे सुरूप-वय वैचक्षण्य-सौभाग्य-माधुर्य और ऐश्वर्य स्वरूप भोग साधनों से ही सम्पूर्ण भोगक्रिया होती है, उसी प्रकार शुद्ध भव से ही संपूर्ण भोग क्रिया द्वारा अभव (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। ऐसे शुद्ध भव से ही प्राप्य भोग क्रिया कारणों की सम्पूर्णता होने से संपूर्ण यानी संक्लेशरहित, सुखरूप, पर को उपताप उत्पन्न न करने वाली तथा अनुबंध से सुन्दर होती है, जिससे बढ़कर अन्य कोई भोगक्रिया सम्पूर्ण सुखद और सुन्दर होती ही नहीं है।।९।।

मूल - तत्तत्खंडणेण एअं नाणं ति वुच्चइ। एअम्मि सुहजोगसिद्धी उचिअपडिवत्तिपहाणा। इत्थ भावो पवत्तगो। पायं विग्घो न विज्जइ निरणुबंधासुहकम्मभावेण। अक्खित्ताओ इमे जोगा भावाराहणाओ तहा। तओ सम्मं पवत्तइ। निप्फायइ अणाउले। एवं किरिया सुकिरिया एगंतनिक्कलंका निक्कलंकत्थसाहिआ तहा सुहाणुबंधा उत्तरुत्तरजोगसिद्धीए।

तओ से साहइ परं परत्थं सम्मं तक्कुसले सया, तेहिं तेहिं पगारेहिं साणुबंधं महोदए बीजबीजादिट्ठावणेणं। कत्तिविरिआइजुत्ते अवंझसुहचिट्ठे समंतभद्दे सुप्पणिहाणाइहेऊमोहतिमिरदीवे रागामयविज्जे दोसानलजलनिही संवेगसिद्धिकरे हवइ अचिंतचिंतामणिकप्पे ॥१०॥

अर्थ : इस भव या परभव में संक्लेशादि कराना यह भोगक्रिया का स्वरूप यानी भोगत्व है। इसका खण्डन करें वह सच्चा ज्ञान कहा जाता है। इष्ट वस्तु तत्त्व का निरूपक ज्ञान ऐसा ही होता है। ऐसा ज्ञान होने पर सम्यग् आलोचन द्वारा उस प्रवृत्ति के अनुबंध यानी फलप्रवाह की धारा पर दृष्टि रहती है। इससे उभयलोक की इष्ट प्रवृत्ति के विषय में औचित्य को प्रधान रखकर शुभ योग, शुभ व्यापार की सिद्धि होती है। यह सब सच्चे ज्ञान पर निर्भर है। सच्चा ज्ञानी पुरुष वैसी प्रवृत्ति में भाव यानी प्रशस्त अन्तःकरण ही प्रेरणादायक होता है, नहीं कि मोह। इस भाव से अशुभ कर्म अनुबन्धरहित हो जाने से एवं सम्यक् साधनों का योग होने से प्रायः विघ्न नहीं आता और सम्यक् प्रव्रज्या पालन होता है। सानुबन्ध अशुभ कर्म वालों को यह शक्य नहीं। द्रव्याराधना नहीं किन्तु भावाराधना एवं जन्मान्तर में प्रव्रज्या का बहुमान करने के कारण सुप्रव्रज्या के योग स्वीकृत ही होते हैं, अतएव वह प्रव्रज्या में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करता है और बिना किसी व्याकुलता से इष्ट तत्त्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान और औचित्य-पूर्वक की हुई क्रिया सुक्रिया होती है। वह एकान्त निष्कलंक और निष्कलंक अर्थ (मोक्ष) की साधक होती है क्योंकि वह शुभ अनुबंध वाली होने से उत्तरोत्तर सतत् शुभ योग का संपादन करती है।

ऐसी शुभ अनुबन्ध वाली शुभ क्रिया के द्वारा वह परोपकार साधना में कुशल साधु प्रधान परहित का साधन करता है। यह इस प्रकार-प्रधान परार्थ का साधक होने से महान् उदय वाला वह साधक अन्य भव्य जीवों में विविध उपायों से धर्म बीज आदि का न्यास कराता है, अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति कराने वाले शासनप्रशंसादि का संपादन अन्यों में करता है वह परहित भी अनुबंध वाला होता है। उसमें कर्तृभूत (साधक) सक्रिय वीर्यादि को धारण करता हुआ उस परहित के प्रति सफल प्रयत्न में निरत रहता है। वह सुन्दर आकार वाला होने से समन्तभद्र, शुभ प्रणिधान आदि का हेतु, मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए दीपक के समान, राग रूपी रोग को दूर करने में वैद्य के समान, द्वेषरूपी अग्नि को बुझाने में समुद्र के समान संवेग की सिद्धि करने वाला और जीवों के सुख का हेतु होने से अचिन्त्य चिन्तामणि के समान बन जाता है।।१०।।

मूल - स एवं परंपरत्थसाहए तहाकरुणाइभावओ, अणेगेहिं भवेहिं विमुच्चमाणे पावकम्मुणा, पवड्ढमाणे अ सुहभावेहिं, अणेगभविआए आराहणाए पाउणइ सव्वुत्तमं भवं चरमं अचरमभवहेउं अविगलपरंपरत्थनिमित्तं। तत्थ काऊण निरवसेसं किच्चं विहूअरयमले सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।।११।।

।। चउत्थं पवज्जा-परिपालणा सुत्तं समत्तं ।।

अर्थ : वह साधु विशिष्ट प्रकार की करुणा आदि के वश धर्मदान के द्वारा प्रधान परहित का साधक होकर, अनेक भवों में उपार्जित पाप-कर्मों से मुक्त होता जाता है, और संवेगादि शुभ भावों से बढ़ता हुआ अनेक भवों की भाव-आराधना के द्वारा सर्वोत्तम यानी तीर्थङ्करादि का जन्म पाता है जो कि अचरम भव (मोक्ष) का हेतु होता है तथा सर्वोत्कृष्ट पुण्य समूह द्वारा संपूर्ण प्रधान परहित का संपादक बनता है। इस चरम भव में महासत्त्वों के लिए उचित समस्त कृत्य करके, और कर्म-रज को दूर करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है, परिनिर्वाण प्राप्त करता है और समस्त दुःखों का अन्त करता है ।।११।।

।। चौथा प्रव्रज्या परिपालना सूत्र समाप्त ।।

- *जिसके भाव लेने के वह खोता है, जिसके भाव देने के वह पाता है। भाव है लेने के = खोना, भाव है देने के = पाना।*
- *गुरु एवं पिता के नाम पर चार चाँद लगाये वही शिष्य, वही पुत्र।*
- *नाम आयगा दान दिया=खोया। है तो देना ही है, दिया=पाया।*
- *साधु ने तीर्थधाम बनाया=पाप, श्रावक ने तीर्थधाम बनाया=पुण्य।*
- *कर्म से युद्ध करे नियतिवश हार भी जाय तो भी वीर।*
- *मुनि मिष्टान्न खाने की इच्छा करे = पाप।*
- *स्वयं को अप्रिय आचरण दूसरों के प्रति करना=पाप।*
- *दो दो कहनेवाले दो प्रकार के, एक याचक, दूसरा दूसरे को देने का कहनेवाला।*
- *गर्भ में आनेवाला कहीं से मृत्यु पाकर ही आता है।*

- जयानन्द

पंच सूत्र

[पंचम सूत्र]

प्रव्रज्याफल

मूल - स एवमभिसिद्धे परमबंभे मंगलालए जम्मजरामरणरहिए पहीणासुहे अणुबंधसत्तिवज्जिए संपत्तनिअसरुवे अकिरिए सहावसंठिए अणंतनाणे अणंतदंसणे ।।१।।

अर्थ : चौथे सूत्र में प्रव्रज्या के पालन की विधि बतलाकर यहां पांचवें सूत्र में उसका फल बतलाते हैं।

वह प्रव्रज्यापालक साधु सुख परम्परा द्वारा सिद्धि प्राप्त करके अब सदाशिवत्व के कारण परमब्रह्म स्वरूप बन जाता है। गुणोत्कर्ष के कारण मंगल के आवास रूप हो जाता है। जन्मादि के कारण न रहने से जन्म जरा और मरण से रहित होता है। उसके सर्व अशुभ सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। अशुभ की अनुबंध शक्ति से भी रहित होकर वह अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करके गमनादि क्रिया से रहित होकर स्वसहज स्वभाव में रहा हुआ, अनन्त ज्ञानवान् और अनन्त दर्शनवान् हो जाता है ।।१।।

मूल - से न सद्दे, न रुवे, न गंधे, न रसे, न फासे, अरुवी सत्ता, अणित्थंत्थसंठाणा, अणंतविरिया, कयकिच्चा, सव्वबाहाविवज्जिआ, सव्वहा निरविक्खा, थिमिआ, पसंता ।।२।।

अर्थ : वह सिद्ध जीव न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है, न स्पर्श है। क्योंकि ये तो पुद्गल के धर्म हैं। फिर भी वह शून्य रूप नहीं, किन्तु ज्ञान की तरह अरूपी सत्तावाला है। उसका कोई अमुक आकार नहीं है। वह सिद्ध आत्मा अनन्त वीर्य से सम्पन्न कृतकृत्य, सर्व बाधा-पीड़ा से रहित, सर्वथा निरपेक्ष और निस्तरंग महासागरवत् स्थिर और प्रशान्त है, सुख की उत्कृष्टता के कारण अनुकूल सत्तावाला है।।२।।

मूल - असंजोगिए एसाऽऽणंदे अओ चेव परे मए। अविक्खा अणाणंदे। संजोगो विओगकारणं, अफलं फलमेआओ, विणिवायपरं खु तं। बहुमयं मोहाओ अबुहाणं, जमित्तो विवज्जओ, तओ अणत्था अपज्जवसिआ, एस भावरिऊ परे अओ वुत्ते उ भगवया ।।३।।

अर्थ : सिद्धों का सुख असांयोगिक अर्थात् पर पदार्थों से निरपेक्ष है, इसी कारण वह श्रेष्ठ माना गया है। उत्सुकता रूपी दुःख होने से पर की अपेक्षा में कोई सुख-नहीं है। अपेक्षित की प्राप्ति होने पर भी प्राप्त का संयोग वियोग का ही कारण है, तो सुख कहां रहा? अतः संयोग से होनेवाला फल अफल ही है, क्यों कि वह विनश्वर एवं अधःपतन का कारण है। फिर भी अज्ञानी जीवों को वह क्यों अत्यन्त इष्ट प्रतीत होता है? इसीलिए कि मोह से अफल में फल बुद्धि आदि स्वरूप विपर्यास उत्पन्न होता है। ऐसे विपर्यास से असत्प्रवृत्ति द्वारा अनन्त अनर्थ होते हैं। यही कारण है कि भगवान ने मोह को परम भावशत्रु कहा है ।।३।।

मूल - नागासेण जोगो एअस्स, से सरूवसंठिए, नागासमण्णत्थ, न सत्ता सदंतरमुवेइ अचिंतमेअं केवलिगम्मं तत्तं। निच्छयमयमेअं विजोगवं च जोगो त्ति न एस जोगो भिण्णं लक्खणमेअस्स। न इत्थाविक्खा। सहावो खु एसो अणंतसुहसहावकप्पो। उवमा इत्थ न विज्जइ। तब्भावेऽणुभवो परं तस्सेव। आणा एसा जिणाणं सव्वण्णूणं अवितहा एगंतओ। न वितहत्ते निमित्तं, न चानिमित्तं कज्जं ति। निदंसणमित्तं तु नवरं ।।४।।

अर्थ : प्र. अगर संयोग ही दुःख का कारण है तो सिद्धों को आकाश के साथ संयोग होने से दुःख क्यों नहीं होता?

उ. - सिद्ध जीव का आकाश के साथ संयोग नहीं है, क्योंकि सिद्ध अपने स्वरूप में ही स्थित हैं।

प्र. - सिद्ध आधार के बिना कैसे रह सकते हैं?

उ. - क्यों नहीं रह सकते? आकाश स्वयं ही दूसरे के आधार बिना रहता ही है न। एक सत्ता दूसरी सत्ता के रूप में परिणत नहीं होती, और न कोई अपने स्वरूप में रहकर अथवा स्वरूप पलटकर किसी अन्य के आधार पर रहता है। यह तत्त्व केवली सर्वज्ञ भगवंतों से गम्य है, अचिन्त्य है। यह निश्चयनय का मत है। (व्यवहार मत भिन्न है, एक वस्तु दूसरे के आधार पर रहती है, तो यहां सिद्धों का आकाश में रहने से संयोग सिद्ध होगा, लेकिन उस संयोग की वियोग शक्ति क्षीण हो जाने से दुष्टता नहीं है, यह सुसङ्गत है।)

संयोग वियोगवाला होता है, इस सिद्धान्त से मानना चाहिए कि सिद्ध का आकाश के साथ कभी वियोग न होने के कारण वैसा संयोग नहीं हुआ है। जो संयोग हुआ है उसका लक्षण भिन्न है, उसमें सिद्ध जीव को किसी की अपेक्षा नहीं है। तो अपेक्षाकृत कोई दुःख नहीं है।

प्र. - सिद्ध जीव लोकान्त आकाश तक क्यों गमन करते हैं?

उ. - सकल कर्म क्षय होने के अनन्तर अनन्त सुख की प्राप्ति के स्वभाव के समान यह भी सिद्ध जीव का स्वभाव है। (कर्मभार हट जाने से ऊर्ध्वगतिशीलता के कारण लोकान्त में जाकर ठहरते हैं, आगे गतिसहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य न होने से गति रुक जाती है।)

वहां के अनन्त सुख के लिए कोई उपमा विद्यमान नहीं है, परन्तु उसके सद्भाव में सिद्ध जीव का अनुभव ही प्रमाण है। कुमारी पतिसुख की तरह संसारभोगी मोक्ष का सुख कैसे जान सके? सिद्धसुख स्वसंवेद्य है। इसमें सर्वज्ञ भगवान का वचन प्रमाण है और वह एकान्ततः सत्य है। उनमें असत्य बोलने का कोई कारण राग-द्वेष, या अज्ञान नहीं है और कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। सिद्धों के सुख को समझाने के लिए केवल यह उदाहरण ही दिया जा सकता है ।।४।।

मूल - सव्वसत्तुक्खए, सव्ववाहिविगमे, सव्वत्थसंजोगेणं सविच्छासंपत्तीए जारिसमेअं, इत्तोऽणंतगुणं। तं तु भावसत्तुक्खयादितो। रागादयो भावसत्तू, कम्मोदया वाहिणो, परमलद्धीओ उ अट्ठा, अणिच्छेच्छा इच्छा।

एवं सुहुममेअं न तत्तओ इयरेण गम्मइ, जइसुहं व अजइणा, आरुग्गसोहं व रोगिण त्ति विभासा। अचिंतमेअं सरुवेणं। साइअपज्जवसिअं एगसिद्धाविक्खाए, पवाहओ अणाई। तेऽवि भगवंतो एवं। तहाभव्वत्ताइभावओ। विचित्तमेअं तहाफलभेएण।

नाविचित्ते सहकारिभेओ, तदविक्खो तओ त्ति, अणेगंतवाओ तत्तवाओ। स खलु एवं, इहरहेगंतो। मिच्छत्तमेसो, न इत्तो ववत्था, अणारिहअमेअं ।।५।।

अर्थ : जैसे किसी को समस्त शत्रुओं का क्षय होने से, सब व्याधियों का अभाव होने से, सर्व अर्थों का संयोग होने से और सब प्रकार की इच्छाएँ फलीभूत हो जाने पर जो सुख प्राप्त हो, उसकी अपेक्षा सिद्धों का सुख अनन्तगुणा होता है, क्योंकि उनके भावशत्रुओं का क्षय आदि हो चुका है। वह इस प्रकार, राग-द्वेष-मोह जीव के अपकारी होने से भावशत्रु हैं, उन सबका क्षय हुआ है। कर्म का उदय पीडाजनक होने से व्याधि रूप है। वे कर्म नष्ट हो गये हैं। उत्कृष्ट लब्धियां अर्थ हैं, वे प्राप्त हो चुकी हैं। और निःस्पृहता (सर्व संग के त्याग) की इच्छा ही इच्छा है, वह तृप्त हो गयी है।

इस प्रकार सिद्धों का सुख सूक्ष्म है, उसको तात्त्विक रूप से कोई दूसरा जान नहीं सकता; जैसे यति के सुख को यति के सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह विशिष्ट प्रकार के क्षायोपशमिक भाव से ही अनुभवनीय है और निरोगता के सुख को रोगी नहीं जान सकता, सन्निपात न होने का सुख सन्निपाती कैसे जान सके? सिद्धों का सुख वास्तव में अचिन्तनीय है, क्योंकि वह बुद्धि का विषय ही नहीं है। वह सुख एक

सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनन्त है अर्थात् उसकी आदि तो है पर अन्त नहीं है, परन्तु प्रवाह की अपेक्षा सेअनादि-अनन्त है। सिद्ध भगवान के विषय में भी यही समझना चाहिए, अर्थात् एक सिद्ध की अपेक्षा आदि है, अन्त नहीं और प्रवाह की अपेक्षा आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं है।

प्र. - भव्यत्व तो समान है तब भिन्न भिन्न काल में सिद्धि क्यों?

उ. - प्रत्येक जीव का तथाभव्यत्व भिन्न भिन्न है कोई जीव कभी और कोई जीव कभी सिद्ध होता है, इसका कारण उस उस जीवों का विशेष प्रकार का भव्यत्व जो कि तथाभव्यत्व कहलाता है वह है। भव्यत्व-भाव काल आदि विशिष्ट प्रकार से होनेवाले फल की भिन्नता से जीवों की सिद्धि भिन्न भिन्न काल में होती है।

प्र. - भव्यत्व समान होने पर भी सहकारी कारणों के भेद से मोक्ष का काल भेद हो सकता है न?

उ. - अगर भव्यत्व-भाव में भेद न हो तो सहकारी कारणों में भी भेद न हो सके, इसलिए सहकारी कारणों का भेद भव्यत्व-भाव को भेद-यानी विचित्र तथाभव्यत्व की अपेक्षा रहती है। यही अनेकांतवाद है और अनेकान्तवाद ही तात्त्विक है। भव्यत्व-भाव को सर्वथा एक-सा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग होता है और एकान्त यह मिथ्यात्व है; क्यों कि एकान्तवाद से कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। यह भव्यत्व एकान्ततः एकरूप हो तो सहकारि-भेद किस प्रकार संगत हो सके? एकान्त का आश्रयण आर्हत्मत से विरुद्ध है ।।५।।

मूल - संसारिणो उ सिद्धत्तं। नाबद्धस्स मुत्ती सद्दत्थरहिआ। अणाइमं बंधो पवाहेणं अईअकालतुल्लो। अबद्धबंधणे वाऽमुत्ती पुणो बंधपसंगओ। अविसेसो अ बद्धमुक्काणं।

अणाइजोगेऽवि विओगो कंचणोवलनाएणं। न दिदिक्खा अकरणस्स। न यादिट्ठम्मि एसा। न सहजाए निवित्ती। न निवित्तीए आयट्ठाणं ।।६।।

अर्थ : यह सिद्धत्व संसारी जीव को 'ही' प्राप्त होता है, क्यों कि बन्ध रहित जीव को तात्त्विक मुक्ति घटित नहीं होती, फिर भी उसे मुक्ति मानी जाय तो वह शब्दार्थ से रहित होगी। तात्पर्य यह है कि 'मुक्ति' का अर्थ है बन्धन हट जाना। जो पहले से ही बन्धन रहित है, उसके बन्धन का हटना कैसे कहा जा सकता है?

यह कर्मबन्ध वैयक्तिक रूप से आदिमान होने पर भी अतीत कला की भांति प्रवाह से अनादि है अर्थात् अनादिकाल से चला आता है। जैसे अतीतकाल की आदि नहीं, उसी प्रकार संसारी जीव के कर्मबन्ध की भी आदि नहीं।

प्र. - जीव पहले अबद्ध था और फिर उसे कर्मों का बन्ध हुआ, ऐसा क्यों नहीं

मानना?

उ. - तब तो कभी स्थिर मुक्ति ही नहीं होगी! क्योंकि उपायों से बन्धन नाश करके अबद्ध होने पर भी पहले की तरह नये बन्ध की आपत्ति बनी रहेगी! अर्थात् मुक्ति उड़ जायगी। इसलिए मानना जरूरी है कि जीव अनादिबद्ध है।

प्र. - बन्ध अगर अनादिमान हो तो वह जीव में स्वाभाविक हो गया और स्वभाव का नाश नहीं हो सकता, अतः मोक्ष कभी नहीं हो सकेगा।

उ. - कर्मबन्ध प्रवाह से अनादिमान होने पर भी उसका वियोग-अन्त हो सकता है, जैसे स्वर्ण और मिट्टी के अनादिकालीन संयोग का अन्त हो जाता है।

प्र. - बन्ध को आदिमान ही मानिए। इसमें पूर्वोक्तानुसार अनादिकाल से अबद्ध को बन्ध की तरह मुक्त को पुनः बन्ध की आपत्ति का निवारण कर सकते हैं। क्योंकि अबद्ध जीव को दिदृक्षा अर्थात् प्रकृति को देखने-जानने की इच्छा होती है, अतएव वह बद्ध होता है। लेकिन जो मुक्त हुआ उसे अब ऐसी दिदृक्षा नहीं होती है, तो उसे बंध होने की आपत्ति नहीं है।

उ. - यह ठीक नहीं, क्योंकि अनादि अबद्ध जीव तो शरीर-इन्द्रिय रहित है और इन्द्रिय रहित जीव को दिदृक्षा हो ही नहीं सकती। एवं यह भी बात है कि अनदेखी वस्तु में दिदृक्षा नहीं होती।

प्र. - दिदृक्षा (देखने की इच्छा-उत्सुकता) सहज-स्वाभाविक ही मानें तो इन्द्रिय की कोई अपेक्षा नहीं रहेगी।

उ. - यदि सहज मानी जाय तब तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जो आत्मा का स्वाभाविक गुण है, उसका कभी विनाश नहीं हो सकता है। यदि उसका विनाश मान लिया जाय तो आत्मा का भी स्थान नहीं रहेगा, अर्थात् आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा, क्योंकि दिदृक्षा को आपने आत्मा का स्वभाव मान लिया; स्वभाव अभिन्न होता है तो आत्म स्वभाव के नाश से आत्मनाश की आपत्ति लगेगी ।।६।।

मूल - न य अन्नहा तस्सेसा, न भव्वत्ततुल्ला नाएणं, न केवलजीवरुवमेअं, न भाविजोगविक्खाए तुल्लत्तं, तया केवलत्तेण सयाऽविसेसओ, तहासहावकप्पणमप्पमाणमेव। एसेव दोसो परिकप्पिआए। परिणामभेआ बंधाइभेओ त्ति साहू।

सव्वनयविसुद्धिए निरुवचरिओभयभावेणं। न अप्पभूअं कम्मं, न परिकप्पिअमेअं। न एवं भवादिभेओ ।।७।।

अर्थ : अगर दिदृक्षा का विनाश होने पर भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता हो तो वह दिदृक्षा आत्मा की नहीं कहलायेगी।

प्र. - दिदृक्षा, भव्यत्व के समान आत्मा से अभिन्न होकर भी निवृत्त हो जाय इसमें क्या हानि?

उ. - दिदृक्षा भव्यत्व के समान न्यायप्राप्त नहीं है, क्योंकि भव्यत्व केवल अर्थात् सर्वथा शुद्ध जीव रूप नहीं है किन्तु कर्मबद्ध जीव रूप है; जब कि दिदृक्षा तो आप मात्र जीव रूप ही मानते हैं, कारण पहले तो अनादिकाल से जीव में कोई [1]महदादि तत्त्व का योग नहीं और दिदृक्षा होती है ऐसा आप कहते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि भावी योग की अपेक्षा से जीव के साथ महत्तत्त्व, अहंकार आदि का सम्बन्ध जब होगा तब वह अशुद्ध कहलायगा, लेकिन इसके पहले तो वह शुद्ध होता है, और वहां दिदृक्षा होती है; अतएव शुद्ध की स्वभावभूत दिदृक्षा अशुद्ध जीव के स्वभावभूत भव्यत्व के समान नहीं है। जब भावी योग नहीं था तब अकेली दिदृक्षा ही थी, वह तो सदा अविशिष्ट ही हुई, अतः वह स्वाभाविक होने से महदादि के वियोग के बाद मुक्तपने में भी होनी चाहिए। कदाचित् यह कहो कि दिदृक्षा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह एकबार महदादि भावों से निर्मित विकार का दर्शन हो गया तब कैवल्य दशा में निवृत्त हो जाती है, लेकिन कैवल्य तो पहले की तरह पीछे भी तुल्य है, तो दिदृक्षा का पहले सद्भाव और बाद में अभाव होने का स्वभाव मानना अप्रमाणिक है; क्यों कि ऐसा मानने पर आत्मा से दिदृक्षा भिन्न सिद्ध होगी। कारण यह है कि वह प्रकृति (महत् तत्त्व) निवृत्त होने पर निवृत्त होने से प्रकृति स्वरूप या प्रकृति समान हुई और प्रकृति तो पुरुष से भिन्न है तो दिदृक्षा भी भिन्न सिद्ध हुई। फलतः शुद्ध जीव में दिदृक्षा होना ये अप्रमाणिक है। अगर कल्पित दिदृक्षा मानी जाये तो वह भी प्रमाण सिद्ध नहीं है; कल्पित में प्रमाण क्या? इसलिए यही मानना उचित है कि आत्मा के भिन्न भिन्न परिणाम (अवस्था विशेष) होते हैं, अतः उसी के भिन्न भिन्न बन्धावस्था मोक्षावस्था माननी उचित है।

अन्य के वास्तविक संयोग-वियोग सिवाय मुख्य-अनौपचारिक परिणाम विशेष नहीं हो सकते हैं। इसीसे संसार से मुक्ति और अनादिमान संसार सिद्ध होता है। ऐसा मानने पर निरुपचरितरूप से अर्थात् वास्तविकरूप से बंध और मोक्ष दोनों की सिद्धि होती है। यह प्ररूपणा द्रव्यनय की दृष्टि से हुई।

पर्यायनय की दृष्टि से कर्म आत्मभूत नहीं हैं और कल्पित भी नहीं हैं अर्थात् असत् वासना आदि रूप भी नहीं हैं, क्योंकि आत्मभूत या असत् मानने से वह केवल बोध स्वरूप ही सिद्ध हुई, अतिरिक्त कुछ नहीं। तब संसार एवं मोक्ष में कोई भेद सिद्ध नहीं हो सकता ।।७।।

---

१. सांख्य मत के अनुसार 'मैं एक हूं, बहुत होऊं' ऐसी दिदृक्षा होती है, तत्पश्चात् शुद्ध आत्मा का प्रकृतिनिष्पन्न महत् (बुद्धि) एवं अहंकार के साथ संबंध होता है और वह संसार को प्राप्त होता है इस प्रकार महत् आदि के साथ संबंध होने से पूर्व मात्र दिदृक्षा ही होती है।

मूल - न भवाभावो उ सिद्धी। न तदुच्छेदेऽणुप्पाओ। न एवं समंजसत्तं। नाणाइमंतो भवो, न हेउफलभावो। तस्स तहासहावकप्पणमजुत्तं, निराहारऽन्नय कओनिओगेणं। तस्सेव तहाभावे जुत्तमेअं सुहुममट्ठपयमेअं विचिंतिअव्वं महापण्णाए त्ति ॥८॥

अर्थ : बौद्धों के मत के अनुसार भव का अभाव ही मोक्ष है, अर्थात् दीपक के बुझने के समान आत्मा की संतान का उच्छेद हो जाना ही मुक्ति है, यह मानना भी असत्य है। कदाचित् सन्तान का सर्वथा विनाश मान लिया जाय तो सन्तान की पुनः उत्पत्ति भी हो सकेगी। अर्थात् जब सत् का सर्वथा विनाश मान लिया तो सर्वथा असत् की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी; किन्तु यह मान्यता न्याय संगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से भव अनादि सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि अगर असत् की उत्पत्ति होती हो तब (१) संभव है कि बीच के किसी काल में पहलेअसत् भी भव-संतति उत्पन्न हो गयी हो! इसके अतिरिक्त, (२) कार्य-कारण भाव का नियम भी भंग हो जायेगा, क्योंकि असत् की उत्पत्ति मानने पर प्रथम क्षण तो बिना कारण ही उत्पन्न होगा! पूर्व क्षण कारण माना गया है, पर असत् की उत्पत्ति से पहले कोई सत् पूर्व क्षण था ही नहीं। (३) संतान उच्छेद रूप मुक्ति मानने पर चरम क्षण किसी का कारण न होने की भी आपत्ति है; अकारण होने से असत् सिद्ध होगा! क्योंकि जो अर्थक्रियाकारी है वही सत् होता है।

कदाचित् कहो कि सन्तान का स्वभाव ही ऐसा है कि आद्य क्षण कारणनिरपेक्ष उत्पन्न हो, और चरम क्षण सर्वथा नष्ट हो, सो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी कल्पना करने से चरम क्षण का स्वभाव अवश्य निराधार या निरन्वय सिद्ध होगा! किन्तु यह असंगत है; कारण स्वभाव का अर्थ है अपनी निज की सत्ता। अब उसको निवृत्ति स्वभाव आप कहते हैं; अर्थात् निज की सत्ता निवृत्तिमय हुई तब चरम क्षण ही निवृत्तिमय, यानी अभाव स्वरूप हुआ, तो आपके द्वारा कल्पित स्वभाव कहां ठहरेगा? वह तो निराधार हो गया। अथवा निवृत्ति स्वभाव निराधारान्वय वाला अर्थात् अन्वय रहित सिद्ध होगा क्योंकि निवृत्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि कुछ न होना ऐसी निवृत्ति का भावात्मक चरम क्षण के साथ अन्वय यानी संबन्ध ही कैसे बने? अवश्य न बन सके। इस प्रकार आद्य क्षण में भी चिन्तनीय है। अतएव यदि वही तथारूप हो, तब तथास्वभाव की कल्पना करना उचित है। यह अर्थ पद (तत्त्व) सूक्ष्म बुद्धि से यानी महाप्रज्ञा से चिन्तन करने योग्य है ॥८॥

मूल - अपज्जवसिअमेव सिद्धसुखं। इत्तो चेवुत्तमं इमं। सव्वहा अणुस्सुगत्तेऽणंतभावाओ।

लोगंतसिद्धिवासिणो एए। जत्थ य एगो तत्थ निअमा अणंता।

अकम्मुणो गई पुव्वपओगेण अलाउप्पभिइनायओ। निअमो अओ चेव अफुसमानगईए गमणं। उक्करिसविसेसओ इअं। अव्वुच्छेओ भव्वाण अणंतभावेण। एअमणंताणंतयं समया इत्थ नायं।

भव्वत्तं जोग्गयामित्तमेव केसिंचि पडिमजुग्गदारुनिदंसणेणं। ववहारमयमेअं। एसोऽवि तत्तंगं पवित्तिविसोहणेण अणेगंतसिद्धीओ निच्छयंगभावेण। परिसुद्धो उ केवलं।

ऐसा आणा इह भगवओ समंतभद्दा तिकोडिपरिसुद्धीए अपुणबंधगाइगम्मा॥१॥

अर्थ : सिद्धों का सुख अविनाशी ही है। और उसमें सर्वथा अनुत्सुकता है। अतएव (यानि अनन्तता और अनुत्सुकता के कारण) वह सर्वोत्तम है।

सिद्ध के जीव लोक के अन्त में, सिद्धिक्षेत्र में स्थित रहते हैं। जहां एक सिद्ध है वहां नियम से अनन्त सिद्ध रहते हैं।

कर्म रहित जीव की गति पूर्व प्रयोग वश तथा स्वभाव से तूंबे आदि के दृष्टान्तानुसार जानना चाहिए। अर्थात् जैसे मिट्टी के लेप से रहित हुआ जलतलवर्ती तूंबा जल के ऊपरी भाग तक पहुंच जाता है, उसी प्रकार कर्मलेप से रहित हुआ जीव स्वभाव से लोक के ऊपरी भाग तक गमन करता है। सिद्ध जीव अस्पृशद् गति अर्थात् किसी को स्पर्श न करती हुई गति से लोकान्त तक जाते हैं।

भव्य जीव अनन्त हैं, अतएव (उनमें से अनन्त काल तक भव्यों को मोक्ष जाने और पुनः न लौटने पर भी) उनका सम्पूर्ण उच्छेद नहीं होता है अर्थात् संसार कभी भव्य जीवों से रिक्त नहीं होता है। क्योंकि उनकी अनन्त संख्या दृष्टान्तभूत काल समयों की 'युक्त अनन्त' संख्या रूप नहीं किन्तु अनन्तानन्त संख्या रूप है जो कि समय की अनन्तता से भी कई गुण अधिक है। सिर्फ समय का भी दृष्टान्त ऐसा है कि समय निरन्तर व्यतीत होते रहते हैं और बीते समय लौटकर नहीं आते, फिर भी समय का कदापि अन्त आने वाला नहीं, तब भव्य जीवों का तो अन्त कैसे आ सके? समस्त भव्य जीवों का कभी मोक्ष नहीं होता है इससे सिद्ध है कि, प्रतिमा के योग्य काष्ठ के दृष्टान्त से, कितनेक भव्य जीव जो कभी मोक्ष नहीं पायेंगे, उनका भव्यत्व सिद्धगमन-योग्यता मात्र स्वरूप ही होता है। फिर भी वे बिल्कुल योग्यता से रहित अभव्य जीवों की अपेक्षा विलक्षण है; जैसे की गांठ आदि से युक्त काष्ठ जो कि प्रतिमा बनने के लिए अयोग्य है, उसकी अपेक्षा योग्य काष्ठ विलक्षण होता है। भव्य होने पर भी उन्हें कभी मोक्ष सामग्री न मिलने से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है; जैसे किसी किसी काष्ठ में प्रतिमा बनने की योग्यता होने पर भी निमित्त न मिलने से उसकी प्रतिमा नहीं बनती।

ऐसी योग्यता का विचार यह व्यवहारनय का मत है; फिर भी व्यवहारनय भी

परमार्थ का अंग है, क्योंकि योग्यता-बुद्धि होने से ही काष्ठादि में प्रतिमादि निर्माण की प्रवृत्ति होती है। **व्यवहारनय के उच्छेद पर तो तीर्थ का उच्छेद होगा!** व्यवहारनय तो तीर्थ रक्षक है, तत्त्व का अंग है, क्योंकि वह प्रव्रज्यादि के प्रदान द्वारा परलोक सम्बंधी प्रवृत्ति का विशोधन करने वाला है, अतएव अनेकान्त की सिद्धि होने से निश्चयनय का अंग होने के कारण तत्त्व का (मोक्ष का) अंग है। अकेला निश्चयनय एकान्त है।

अरिहंत भगवान की दोनों नय वाली आज्ञा अथवा प्रस्तुत पंचसूत्र में प्ररूपित यह आज्ञा, कष, छेद और ताप इन तीन प्रकार की शुद्धि के कारण समन्तभद्र है-सर्वथा निर्दोष है। इस आज्ञा को अपुनर्बन्धक (कर्म की उत्कृष्ट स्थिति खपाने वाले और आगे न बांधने वाले) मार्गाभिमुख और मार्ग पतित आदि जीव ही समझ सकते हैं, किन्तु जिनको केवल संसार ही प्रिय है ऐसे भवाभिनन्दी जीव नहीं समझ सकते ।।९।।

मूल - एअप्पिअत्तं खलु इत्थ लिंगं, ओचित्तपवित्तिविन्नेअं संवेगसाहगं निअमा।

न एसा अन्नेसिं देआ। लिंगविवज्जयाओ तप्परिण्णा। तयणुग्गहट्ठयाए आमकुंभोदगनासनाएणं, एसा करुण(णा)त्ति वुच्चइ। एगंतपरिसुद्धा, अविराहणाफला, तिलोगनाहबहुमाणेणं निस्सेअससाहिग, त्ति पव्वज्जाफलसुत्तं ।।१०।।

।। पंचमं पवज्जा-फल सुत्तं समत्तं।।

अर्थ : यह आज्ञाप्रियता आदि अर्थात् अरिहन्त भगवान की आज्ञा, आज्ञा का श्रवण-अभ्यासादि प्रिय लगना ही अपुनर्बन्धकादि होने का चिह्न है। आज्ञाप्रियता, उचित प्रवृत्ति के द्वारा जानी जा सकती है और वह अवश्य संवेग की साधक है।

भगवान की आज्ञा दूसरों को जो अपुनर्बंधक नहीं है, भवाभिनन्दी हैं उन्हें नहीं देनी चाहिए। उनकी पहचान पूर्वोक्त चिह्न के विपर्यास से हो सकती है। उनके अनुग्रह के लिए अर्थात् उनके हित के लिए ही यह आज्ञा उन्हें देना उचित नहीं। जैसे कच्ची मिट्टी के घड़े में डाला हुआ पानी उस घड़े का भी विनाश कर देता है, उसी प्रकार **अपात्र को दिया हुआ आगम उसी का अहितकर्त्ता सिद्ध होता है।** अतएव उसे आज्ञा न देना ही उस पर करुणा करना है। यह करुणा उसको अधिक दोषोत्थानरूप अहित से निवारण करने वाली होने से एकान्त शुद्ध है, अविराधना रूप फल देने वाली है और त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान के बहुमान के कारण उत्पन्न होती है, इसलिए मोक्ष साधक है। जिसे आगम परिणत हुए हैं उस पुरुष को ही ऐसी करुणा होती है, क्योंकि उसी का भगवान पर अत्यन्त बहुमान होता है।

इस प्रकार प्रव्रज्या का फल निरूपण करने वाला पांचवा सूत्र समाप्त हुआ।।१०।।

।। पांचवां प्रव्रज्या-फल सूत्र समाप्त ।।

आचार्य श्रीरत्नसिंह सूरि कृत

अथ धर्माचार्य बहुमान प्रकरणम्

(आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि कृत गुजराती से हिन्दी भाषांतर)

नमिउं गुरुपयपउमं, धम्मायरियस्स नियमसीसेहिं।
जह बहुमाणो जुज्जइ, काउमहं तह पयंपेमि ॥१॥

सद्‌गुरु भगवंत के चरण कमल में नमस्कारकर स्वशिष्यों को धर्माचार्यों का बहुमान (गुरुओं का) जिस रीति से करना चाहिए उसका वर्णन मैं करता हूँ। उसकी प्ररूपणा करता हूँ ॥१॥

गुरुणो नाणाइजुया, महणिज्जा सयलभुवणमज्झंमि।
किं पुण नियसीसाणं, आसन्नुवयारहेऊहिं ॥२॥

ज्ञानादि (ज्ञान-दर्शन चारित्र) गुण युक्त सद्‌गुरु तो सर्व पृथ्वि में माननीय (पूजनीय) है। तो फिर निकटतम उपकारी होने के कारण उनके शिष्यों के लिए क्या पूछना? अर्थात् आसन्नोपकारी होने के नाते (अतिशय) विशेष पूजनीय हैं।॥२॥

गरुयगुणेहिं सीसो, अहिओ गुरुणो हविज्ज जइ कहवि।
तहवि हु आणा सीसे, सीसेहिं तस्स धरियव्वा ॥३॥

गुरु से शिष्य विशिष्ट गुणों से कहीं अधिक भी हो जाय तो भी शिष्यों को गुरु आज्ञा मस्तक पर धारण करनी चाहिए अर्थात बहुमान पूर्वक मान्य करनी चाहिए।॥३॥

जइ कुणइ उग्गदंडं, रुसइ लहुणवि विणयभंगंमि।
चोयइ फरुसगिराए, ताडइ दंडेण जइ कहवि ॥४॥

किंचित् विनय में स्खलना होने पर रोष करें, उग्रदंड करे, कठोर शब्दों से ताड़ना करे एवं उग्रदंड से मारे तो भी शिष्य, गुरु को देव समान पूजे ॥४॥

अप्पसुएवि सुहेवी, हवइ मणागं पमायसीलोऽवि ।
तहवि हु सो सीसेहिं, पूइज्जइ देवयं व गुरु ॥५॥

गुरु अल्पज्ञानी हो, किंचित् सुखशीलिए हो, किंचित् प्रमादी हो, तो भी शिष्यों द्वारा भगवंत सम पूजे जाते हैं।॥५॥

सोच्चिय सीसो सीसो, जो नाउं इंगियं गुरुजणस्स ।
वट्टइ कज्जम्मि सया, सेसो भिच्चो वयणकारी ॥६॥

वही शिष्य सच्चा शिष्य है, जो गुरुजनों के इंगित आकार (मनोभाव) को ज्ञातकर सदा कार्य में प्रवृत्त होता है। शेष वचनानुसार वर्तक तो नोकर है।।६।।

जस्स गुरुम्मि न भत्ति, निवसइ हिययंमि वज्जरेहव्व।
किं तस्स जीविएणं? विडंबणामेत्तरुवेणं ।।७।।

हृदय में वज्ररेखा सम जिन की गुरु प्रति भक्ति नहीं होती, उनका विडंबणा मात्ररूप जीवन से क्या? ।।७।।

पच्चक्खमह परोक्खं, अवन्नवायं गुरूण जो कुज्जा ।
जम्मंतरे वि दुल्लहं, जिणिंद वयणं पुणो तस्स ।।८।।

जो आत्माएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष गुरु का अवर्णवाद करते है, उनको जन्मांतर में भी जिन वचन की प्राप्ति दुर्लभ है।।८।।

जा काओ रिद्धीओ हवंति सीसाण एत्थ संसारे ।
गुरुभत्ति पायवाओ, पुप्फसमाओ फुडं ताओ ।।९।।

इस संसार में शिष्यों की जो कुछ भी रिद्धी-सिद्धि है वह स्पष्ट रूप से गुरुभक्ति रूपी वृक्ष के पुष्पसम है।।९।।

जलपाणदायगस्सवि-उवयारो तीरए काउं ।
किं पुण भवन्नवाओ, जो तारइ तस्स सुहगुरुणो ।।१०।।

जलदान देनेवाले के उपकार का बदला चुकाना मुश्किल है तो फिर भवरूपी समुद्र से जो तारते हैं उन सद्गुरु के उपकार का बदला कैसे चुकाया जा सके?।।१०।।१

गुरुपायरंजणत्थं, जो सीसो भणइ वयणमेत्तेणं ।
मह जीवीयंपि एयं, जं भत्ति तुम्ह पयमूले ।।११।।
एयं कहं कहंतो, न सरइ मूढो इमंमि दिट्ठतं ।
साहेइ अंगणं चिय, घरस्य अब्भिंतरं लच्छिं ।।१२।।

गुरु चरण रंजन करने के लिए शिष्य वचन मात्र से (हृदय से नहीं) कहता है कि तुम्हारे चरण कमल की भक्ति ही मेरा जीवन है। ऐसी बात करने वाले मूढ़ (मूर्ख) को इस दृष्टांत का खयाल नहीं है कि घर का अंगन घर की लक्ष्मी को कहता है। (अंगन पर से जैसे घर की लक्ष्मी दिखायी देती है, वैसे तेरे वचन के प्रलाप से तेरे हृदय में भक्ति है या नहीं वह दिखायी देता है।) ।।११-१२।।

एसाच्चिय परमकला, एसो धम्मो इमं परं तत्तं ।
गुरुमाणसमणुकलं, जं किज्जइ सीसवग्गेणं ।।१३।।

शिष्यवर्ग के द्वारा गुरु के मनोनुकूल जो किया जाता है वही सर्वश्रेष्ठ कला है, वही धर्म है, वही परम तत्त्व है।।१३।।

जुत्तं चिय गुरुवयणं, अहव अजुत्तं य होज्ज दइवाओ ।
तहवि हु एयं तित्थं, जं हुज्जा तं पि कल्लाणं ।।१४।।

गुरु का वचन युक्त हो या भाग्यवश अयुक्त हो, तो भी वह तीर्थ है। जो होगा वह भी कल्याण ही होगा। (अर्थात् गुरु के अयुक्त वचन से भी कल्याण ही होगा)।।१४।।

किं ताए रिद्धीए, चोरस्य व वज्झमंडणसमाए?
गुरुयणमणं विराहिय, जं सीसा कहवि वंछंति ।।१५।।

गुरुजन के मन की विराधना करके शिष्यगण जिस रिद्धि को चाहते हैं, फांसी की सजा पाये हुए चोर के आभूषण जैसी उस ऋद्धि से क्या फायदा?।।१५।।

कंडयणनिट्ठीवणउसास-पामोक्खमइलहुयकज्जं ।
बहुवेलाए पुच्छिय अन्नं पुच्छेज्ज पत्तेयं ।।१६।।

खुजलाना, निष्ठिवन फेंकना, बारबार श्वासोच्छवास लेना आदि अति सूक्ष्म कार्य बहुवेल के आदेश से करना शेष सभी कार्य गुरु भगवंत को पूछकर करना।।१६।।

मा पुण एगं पुच्छिय, कुज्जा दो तिन्नि अवरकिच्चाइं ।
लहुएसुवि कज्जेसुं एसा मेरा सुसाहूणं ।।१७।।

विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि -

एक कार्य की गुरु को पृच्छाकर दूसरे दो तीन कार्य न करें। सूक्ष्म कार्यों में भी सुसाधुओं की यह मर्यादा है।।१७।।

काउं गुरुंपि कज्जं, न कहंति य पुच्छियावि गोविंति ।
जे उण एरिसचरिया, गुरुकुलवासेण किं ताणं ।।१८।।

बृहद् कार्य करके भी गुरु को कहे नहीं। गुरु पूछे तो अपलाप करे ऐसे आचरण वाले जो शिष्य हैं उनको गुरुकुलवास से क्या?।।१८।।

जोग्गाजोग्गसरुवं, नाउं केणावि कारणवसेणं ।
सम्माणाइविसेसं, गुरुणो दंसंति सीसाणं ।।१९।।

शिष्यों की योग्यायोग्यता का स्वरूप जानकर किसी कारणवश गुरुभगवंत शिष्य प्रति सन्मानादि अल्पविशेष भी बताते हैं।।१९।।

एसो सयावि मग्गो, एगसहावा न हुंति जं सीसा ।
इय जाणिय परमत्थं, गुरुंमि खेओ न कायव्वो ।।२०।।

यह नित्य का मार्ग है कि शिष्य गण एक स्वभाव वाले सदा नहीं होते। इस परमार्थ को जानकर गुरु के विषय में शिष्य को किंचित् भी खेद न करना।।२०।।

मा चिंतइ पुण एयं, किं पि विसेसं न पेच्छिमो अम्हे ।
रत्ता मूढ़ा गुरुणो, असमत्था एत्थ किं कुणिमो?।।२१।।

कभी भी ऐसा विचार न करे कि हम गुरु में कोई विशेषता देखते नहीं है। गुरु रक्त, मूढ़, एवं असमर्थ है तो हम क्या करें?।।२१।।

रयणपरिक्खगमेगं, मुत्तुं समकंतिवन्नरयणाणं ।
किं जाणंति विसेसं, मिलिया सव्वे वि गामिल्ला ।।२२।।

एक समान कांति एवं वर्णवाले रत्नों के विषय में एक रत्न परीक्षक के अलावा चाहे जितने अन्य ग्रामिण जन मिल जाय तो भी वे क्या जानें?।।२२।।

एयं जिण जाणमाणा, ते सीसा साहयंति परलोयं ।
अवरे उयरं भरिउं, कालं वोलंति महिवलए ।।२३।।

(रत्न परीक्षक सम) गुरु को जाननेवाले शिष्य गण परलोक को साध लेते हैं। दूसरे तो पेट भरकर पृथ्वी पर समय पसार करते हैं।

एयंपिहु मा जंपइ गुरुणो दीसंति तारिसा नेव ।
जे मज्झत्था होउं जहट्ठिय वत्थुं वियारंति ।।२४।।

ऐसे शब्द भी न बोले कि वैसे गुरु भगवंत दिखायी नहीं देते जो मध्यस्थ होकर यथावस्थित वस्तु को विचारते हैं।।२४।।

समयाणुसारिणो जे, गुरुणो ते गोयमं व सेवेज्जा ।
मां चिंतह कुविकप्पं, जह इच्छह साहिउं मोक्खं ।।२५।।

समयानुसार जो गुरु भगवंत है उनको गौतम स्वामी समान मानकर सेवा कर। जो मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो तो किसी भी प्रकार का गुरुसेवा के विषय में कुविकल्प न कर।।२५।।

वक्कजडा अह सीसा, के वि हु चिंतति किंपि अघडंतं ।
तह वि हु नियकम्माणं, दोसं देज्जा न हु गुरुणं ।।२६।।

वक्र एवं जड़ ऐसे शिष्य कितने ही अघड़ित विचार करते हैं। उसमें भी स्वकर्म का दोष विचारना गुरु को दोष न देना।।२६।।

चक्कित्तं इंदत्तं गणहर अरहंतपमुह चारुपयं ।
मणवंछियमवरंपि हु, जायइ गुरुभत्ति जुत्ताणं ।।२७।।

चक्रवर्तित्व, इन्द्रत्व, गणधर पद, अरिहंत पद आदि सुंदर संपदा और अन्य भी मनवंछित की प्राप्ति गुरुभक्ति युक्त आत्माओं को होती है।।२७।।

आराहणाओ गुरुणो अवरं न हु किंपि अत्थि इह अमियं ।
तस्स य विराहणाओ, बीयं हलाहलं नत्थि।।२८।।

गुरु की आराधना करने जैसा अन्य कोइ अमृत नहीं है। और उनकी विराधना करने जैसा दूसरा कोई हलाहल विष नहीं है।।२९।।

एयंपि हु सोऊणं गुरुभत्ति नेव निम्मला जस्स ।
भवियव्वया पमाणं, किं भणिमो तस्स पुण अन्नं ॥२९॥

इस वर्णन को श्रवणकर (पढ़कर) भी जिसके हृदय में गुरुभक्ति उत्पन्न नहीं होती। उसके लिए तो भवितव्यता ही प्रमाण भूत है उसके विषय में दूसरा क्या कहें?॥२९॥

साहूण साहुणीणं सावयसड्ढीण एस उवएसो ।
दुण्हं लोगाण हिओ, भणिओ संखेवओ एत्थ ॥३०॥

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं के लिए उभयलोक में हितकारी उपदेश यहाँ संक्षेप में कहा है॥३०॥

परलोय लालसेणं किं वा इहलोयमत्तसरणेणं ।
हियएण अहव रोहा जह तह वा इत्थ सीसेणं ॥३१॥
जेण न अप्पा ठविओ, नियगुरुमणपंकयम्मि भमरोव्व ।
किं तस्स जीविएणं, जम्मेण अहव दिक्खाए? ॥३२॥

परलोक की इच्छा से या इस लोक में एक मात्र गुरुभगवंत ही शरणभूत है ऐसे भाव से हृदय के बहुमान पूर्वक मान से या दबाव से टुंक में जिस किसी भी रीति से जिन शिष्यों ने स्वयं के गुरु के मन रूपी कमल के विषय में भ्रमर सम स्वयं के आत्मा को स्थापन नहीं किया है उसके जीने से, जन्म से एवं दीक्षा से क्या?

जिस प्रकार भ्रमर कमल में भ्रमण करता है उसी प्रकार गुरु के चित्तरूपी कमल में स्वयं के आत्मा को स्थापन करना है। जो आत्मा यह नहीं कर सकते उनका जन्म जीवन एवं दीक्षा सब व्यर्थ है॥३१-३२॥

जुत्ताजुत्त वियारो, गुरुआणाए न जुज्जए काउं ।
दइवाओ मंगुलं पुण, जइ हुज्जा तंपि कल्लाणं ॥३३॥

गुरु आज्ञा के विषय में युक्तायुक्त का विचार करना योग्य नहीं है। कभी अयुक्त आज्ञा होगी तो भी उससे आत्मकल्याण ही होगा॥३३॥

सिरिधम्मसूरि पहूणो, निम्मल कित्तीए भरियभुवणस्स ।
सिरिरयणसिंहसूरी, सीसो एवं पयंपेइ ॥३४॥

जिनकी निर्मल कीर्ति से पूरा विश्व भरा हुआ है ऐसे धर्मसूरिप्रभु के श्री रत्नसिंह सूरि नामक शिष्य इस प्रकार कहता है।

मूलगुण हीन गुरु को विधिपूर्वक छोड़ने का विधान भी है।

श्रमण संघ को उपयोगी हितशिक्षा

भ्रमर जिस प्रकार किसी भी प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करवाये बिना अल्प-अल्प रस अन्य-अन्य पुष्पों में से चूस लेता है। उसी प्रकार श्रमण को आहार-पानी आदि जीवनोपयोगी पदार्थ अनेक घरों से अल्प-अल्प लेकर निर्वाह करने का कहा है। वह भी गृहस्थ की भावनानुसार, उसकी द्रव्यसंपत्ति के अनुसार, उसको असद्भाव न हो उस प्रकार, उसने अपने लिए बनाये हुए पदार्थ में से भी संयम में कल्पनीय हो वही लेना चाहिए। यह तब ही हो सकेगा जब साधु तपस्वी होगा, चौदह अभ्यंतर ग्रन्थी (वेद ३ हास्यषट्क, कषाय ४ मिथ्यात्व) एवं नौ बाह्य ग्रन्थी धन्य-धान्यादि परिग्रह रूप से रहित हो।

आहार की पवित्रता के बिना रक्त की पवित्रता एवं रक्त की पवित्रता के बिना मन, वचन, काया के योगों की पवित्रता, दुःसंभवित है। तभी तो कहा है 'जेवुं खाय अन्न तेवुं थाय मन' 'आहार तेवो ओडकार' 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' आहार शुद्धि, संयमशुद्धि की वृद्धि का प्रधान कारण है। तभी तो कहा है 'सर्वजीतं जीते रसे' एक रसनेन्द्रिय को जीत ली उसने सब जीत लिया। अष्ट प्रवचन माता में भी एषणा समिती का स्थान प्रधान है। आहार, आहारदाता, एवं आहारग्रहण कर्ता आदि जितने प्रमाण में निर्दोष उतना आहार विशेष उपकारक होता है। इसी कारण ४२ दोष टालकर आहार लेना एवं गोचरी करते समय पाँच दोषों को टालने का आगमोक्त विधान है। श्रद्धा एवं दान दोनों का फल चारित्र है एवं चारित्र का आधार आहार है। इसी कारण से गृहस्थ के मार्गानुसारिता विवरण में प्रथम स्थान न्यायोपार्जित वित को एवं **श्रमण के लिए प्रथम शुद्ध आहार का विधान दर्शाया है।** यही श्रमण एवं मुक्त विशेषण का वास्तविक अर्थ है।

गृहस्थ ने साधु के लिए निर्जीव किये हुए, खरिद किये हुए या पकाये हुए आहारादि लेने से तज्जनित हिंसादि दोषों की अनुमोदना का दोष साधु को लगता है। और देनेवाले गृहस्थ को देते समय दुःख अभाव आदि हो तो उसको मोहनीय कर्म के बंध द्वारा **बोधिदुर्लभपना** होता है परिणाम में धर्म पर द्वेष होता है। उस कार्य में निमित्त बनने वाले साधु को भी वैसा **मोहनीय कर्म का बंध** होता है। परिणाम में धर्म एवं संयम की प्राप्ति दुर्लभ होने से विशेष हानि होती है। इसी कारण कोइ भी व्यक्ति अनादर-असद्भाव न करे उसी प्रकार का वर्तन हो ऐसी भावना प्रत्येक मुनि करे एवं वैसा ही वर्तन करना चाहिए।

भिक्षा ग्रहण करने में भ्रमर तुल्य भिक्षा लेने के लाभ आदि के साधु ज्ञाता होते हैं। विशेष में किसी खास विशिष्ट घर की, भक्त के घर की, श्रीमंत राजा आदि के घर की

ही भिक्षा लेने की प्रवृति वाले नहीं होते, एवं ऐसा एक ही प्रकार का पदार्थ लेने वाले नहीं होते परंतु अभिग्रहादि के द्वारा जो मिले वह तुच्छ-प्रांत वस्तु में संतोष मानने वाले होते हैं और ऐसा आहार भी मन-इंद्रियों की पुष्टि हेतु नहीं पर केवल संयम के पोषण के लिए ही जो लेते हैं। उन्हीं को साधु कहा है।

साधु को साधुतारूपी गुणों को प्रकट करने चाहिए।

अनादि भोगेच्छा का बीज इतना सूक्ष्म होता है कि निर्मूल होने जैसा दिखायी देने पर भी सामान्य निमित्त के मिलते ही उसमें से ईच्छारूपी अंकुर फूट निकलते हैं। फिर उसे रोकना अतिदुष्कर होता है। अतः मुख्य मार्ग तो यहाँ कहाँ जैसा पूर्ण विरागी बनकर समदृष्टि से संयम की रक्षा करनी। फिर भी चित्त में चंचलता आ जाय तो ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा उसे वश करना, आतापना, तप आदि के द्वारा उसे निर्बल बनाना। अन्यथा इच्छा के आधीन बनने पर दुःखों के आधीन बनना पड़ता है। इसी कारण से क्षण विनश्वर जड़ पदार्थों का शुभाशुभ शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श प्रति के राग-द्वेष का त्याग करना हितकर है। ऐसा करने से संसार में भी मुक्ति सुख का स्वाद लिया जा सकता है।

एक राजपुत्र के द्वारा कुतुहलवृति से स्वयं की दासी के मस्तक पर रहे हुए जल पात्र पर कंकर फेंककर छिद्र करने से पानी निकलने लगा, चतुर दासी ने सोचा कि रक्षक ही भक्षक बन जाय तब फरियाद किसे करें? अतः मैं स्वयं ही जल को बचा लूं। और शीघ्र मिट्टि से छिद्र पूरकर जल की रक्षा कर ली। इस प्रकार जिस मन से संयम की सिद्धि करने की है वही चंचल बने तब ज्ञानी पुरुषों द्वारा उपर बताये हुए मार्ग से संयम की रक्षा करनी चाहिए।

औदेशिक में जीवहिंसा, क्रयक्रित में गृहस्थ ने पाप द्वारा प्राप्त किये हुए द्रव्य का साधु के लिए व्यय होने से पाप की अनुमोदना, नित्यपिंड में गृहस्थ का एवं किसी वस्तु का राग-प्रतिबंध, अभ्याहृत में आने-जाने में ईर्यासमिति का भंग, अनुमोदनादि और पात्र में चिकनाहट आदि विविध दोष, रात्रिभोजन में संनिधि दोष उपरांत रात्रिभोजन का पाप, और स्नान-गंध-पुष्प-पंखेमें अनुक्रम से स्पर्श, गंध आदि पर राग-प्रतिबंध होने के साथ काम विकार का उपद्रव, इस प्रकार प्रत्येक का अनाचीर्णपन यथामति विचारना। अनाचीर्ण के आचरण से संयम दुषित होता है और ज्ञानादि गुणों की हानी होती है। इसमें संनिधि से परिग्रह, गृहस्थ भोजन से चोरी हो जाने का या गृहस्थ को अप्रीति आदि होने का भय आदि विविध दोष, राजपिंड से रसनेन्द्रिय का पोषण, लोक में लघुता, अपशुकन बुद्धि से सामन्तादि को क्रोध हो जाने का संभव आदि दोष, किमिच्छक से आधाकर्मादि दोष, संबाही से सुखशीलपना प्रमाद आदि, दंत प्रक्षालन

से बाह्यशौच का प्रतिबंध, संप्रश्न से सावद्य में प्रवृत्ति अनुमोदना, अभिमानादि और देह प्रलोकन से शरीर पर राग-मोहादि होने का संभव आदि विविध दोष हैं।

इसमें जूआँ तो महा व्यसन है, विशेष में आर्त्तरौद्र ध्यान का कारण है, छत्र स्वयं को धरने से उष्णपरिषह से पराभव और पर को धरने से लघुतादि दोष, जूते पहनने से जिनाज्ञा का भंग, ईर्यासमिति की विराधना सुखशीलपना आदि दोष, और अग्नि के आरंभ से हिंसा होने के साथ शीत परिषह से पराभव-लघुतादि होती है अथः अनाचीर्ण समजना। दूसरे भी अनेक दोषों का संभव है।

शय्यातर पिंड लेने से एषणा समिति में दोष, वसति की दुर्लभता, गृहस्थ का प्रतिबंध या द्वेष आदि, आसन, पलंगादि से लघुता, शासन की अपभ्राजना, सुखशीलपना, हिंसा आदि, गृहस्थ युक्त घर में रहने से ब्रह्मचर्य की विराधना, लघुता, प्रतिबंध और दो घरों के बीच में बैठने की अपभ्राजना, लघुता, चोरी आदि का कलंक विविध दोष और पीठी आदि करने करवाने से मलपरिषह से पराभव, देहशोभा, कामविकार आदि दोष यथामति विचारना।

गृहस्थ की वैयावच्च से अविरति का पोषण-अनुमोदनादि, आजीवक वृत्ति से धर्म की अपभ्राजना-लघुतादि, मिश्रपाणी से हिंसादि और आतुर स्मरण से आर्त्त-रौद्र ध्यान असमाधि आदि विविध दोषों का संभव यथामति विचारना।

मूला, आदु, कंद और मूल ये चारों अनंत कायिक और सचित ईक्षु-शेरडी, फल एवं बीज इन सब को वापरने से अहिंसा व्रत का भंग, विकारक होने से चतुर्थव्रत में अतिचार मन की असमाधि, स्वाद की गृद्धि आदि, परिणाम में पांचों व्रतों की विराधना, यथामति विचारना।

प्रत्येक क्षार उस-उस नाम से भिन्न-भिन्न देश में प्रसिद्ध है। सभी सचित वापरने से हिंसा होती है। ये कितनेक क्षार पानी में व कितनेक पर्वतों में पकते हैं।

धुम्रपान से अग्निकाय की विराधना एवं विषयों की गृद्धि, वमन, वस्तीकर्म एवं विरेचन से शरीर में रहे हुए कृमि आदि त्रस-संमूर्च्छिम जीवों की हिंसा, अंजन से शरीर शोभा, नेत्रों का विकार, दातून से वनस्पतिकाय की विराधना की अनुमोदना, विभूषा आदि दोष, शरीर के अवयवों को तैलादि की मालिश करने से सुखशीलता, हिंसादि एवं विभूषा से नववाड़ की विराधना, काम विकार, ब्रह्मचर्य खंडन आदि विविध दोष प्रकट ही हैं।

यहाँ चौपन अनाचीर्ण कहे उसमें राजपिंड एवं किमिच्छक पिंड को एवं जुगार एवं नालिका को एक गिनने पर बावन की संख्या अन्य ग्रन्थों में हुई है और प्रसिद्ध भी बावन हैं ऐसा समझना।

उत्सर्ग से ईन बावन प्रकार के अनाचारों की आचरणा मुनियों के लिए निषिध होते हुए भी देश-काल बल-की हानि के योग से रोगादिक आपत्ति के समय में आवश्यकता होने पर गुर्वादि की अनुमति से, उनकी आज्ञानुसार संयम की रक्षा के ध्येय से अल्प दोष और अधिक लाभ का कारण हो तो अपवाद से आचरणा करनी पड़ती है। **सर्वत्र अमायी एवं संयम के खपी बनना हितकर है।**

मुनि जीवन में वास्तविक एक भी गुण सभी गुणों को प्रकट करता है। शास्त्रों में कहा है 'वास्तविक एक भी गुण मुक्ति देने में समर्थ है।' धन के अर्थी को 'लाभ हो वैसे लोभ बढ़ता है।' उसी प्रकार संयम के अर्थी को जैसे-जैसे गुण प्रकट होते हैं, वैसे-वैसे वह निर्जरा का प्रयत्न विशेष करता है। जो शीत-उष्ण आदि प्रसंग जगत को पीड़ित करते हैं उनका सामना करके उत्तम मुनि सभी दुःखों के मूल रूप अनुकूलता के राग और प्रतिकूलता के द्वेष पर विजय प्राप्त करता है और प्राप्त ज्ञानादि को इस प्रकार सफल करता है। वस्तुतः ज्ञानादि की प्राप्ति उसे कही जाय कि ज्ञानादि के दल से कर्मो की निर्जराकर उसको सफल करे 'प्राप्त ज्ञानानुसार शक्ति होते हुए प्रवृति न करे उसको ज्ञान प्राप्त हुआ ऐसा नहीं कहा जाता' ध्येय बिना का उद्यम या उद्यम बिना का ध्येय निरर्थक है। अथः **साधुओं को एक मात्र कर्मघात के ध्येय से ही** अप्रमत्तता पूर्वक जीना चाहिए। यही ज्ञान-क्रिया एवं ध्येय से कर्म मुक्त होने का मार्ग है।

चारित्र की निर्मल आराधना से उदयागत पुण्योदय मोह का पोषक नहीं बनता। इसी कारण दैवीसुखों को भोगते हुए भी मनुष्यभव प्राप्तकर पुनः मुक्ति की निर्मल आराधनाकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है। कष्टों को समाधिपूर्वक सहन करने से बांधे हुए पुण्य का उपभोग करते समय निरपेक्ष रहा जा सकता है, **'दुख में जो समाधि नहीं रख सकता उसे सुख में समाधि नहीं रहेगी'** अतः सुख में समाधि रखने हेतु प्रथम कष्टों के समय समाधि रखने का अभ्यास करना चाहिए। श्री जिनशासन के धर्मानुष्ठान कष्टकारक होने से उसके अभ्यास से आत्मा सुख को पचाने की कला प्राप्त कर सकता है और सुख-दुःख में समाधिपूर्वक रहने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। सुख-दुःख के निमित्तों में राग-द्वेष न कर अनित्यादि भावनाओं के बल से और अंत में आत्मा के सहज स्वभाव बल से उसका उपभोग करना उसका नाम समाधि है। **श्रमण जीवन का साध्य ही समाधि है** और वह व्यवहारिक सामायिकादि के बल से सिद्ध की जा सकती है। इसी कारण मुक्ति का अनंतर कारण चारित्र कहा है। ज्ञान-दर्शन मुक्ति के परंपर कारण हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप में जो दिखायी देते हैं वे अनेकानेक एकेन्द्रिय जीवों के शरीर हैं। जैसे मनुष्य, उसका शरीर और इस शरीर में उत्पन्न कृमि आदि अलग-अलग जीव हैं। उसी प्रकार पृथ्वी आदि पांचों में अनेक जीवों के शरीर हैं।

अतः उसे अनंतकायिक कहते हैं। इसके उपरांत पृथ्वी आदि के आधार से जीने वाले त्रस जीव भी होते हैं। दिखायी देनेवाली पृथ्वी आदि जीवों के शरीर हैं। ये उनके लक्षणों से स्पष्ट समज में आ जाता है। चेष्टा रूप से दिखायी न देने पर भी एकेन्द्रिय में भी जीव के लक्षण रूप उपयोग, योग, बल, अध्यवसाय, ज्ञान, दर्शन, आठों कर्मों का उदय, बंध, लेश्या, श्वासोच्छ्वास, कषाय आदि सभी अस्पष्ट भी होता ही है। आहार भी है, उनकी अनुकूल आहार मिलने से वृद्धि एवं आहार न मिले या प्रतिकूल मिले तो शुष्कता, मुरझाना एवं हानि होती है। **जैसे मिट्टि के टेकरे पर्वत आदि पृथ्वी के जीव समय-समय पर बढ़तें भी हैं, घटते भी हैं।** गर्भ में कलल अवस्था में हाथी का शरीर या पक्षी के अंडे में रस द्रव (प्रवाही) होते हुए वृद्धि होती है, जन्म होता है। अतः जीव है। उसी प्रकार जल भी द्रव-प्रवाही होते हुए सजीव है, दिखायी देनेवाला पानी शरीरों का समूह है। अग्नि भी वायु-काष्ट या तेल आदि आहार मिलने पर बढ़ती है न मिले तो बुझ जाती है। अतः सजीव है। मानव देह में जठर की गरमी होती है। वह जीव होने की निशानी है। जीव जाने पर उसके साथ गरमी चली जाती है। उसका शरीर ठंडा होने लगता है। उसी प्रकार अग्नि की उष्णता भी सजीव की निशानी है। जीव जाने पर कोलसे-राख आदि ठंडे हो जाते हैं। इत्यादि अनेक युक्तियों से अग्नि की सजीवता सिद्ध है। वायु भी सजीव है। अचेतन पदार्थ को कोइ प्रेरक जीव न मिले तो वह स्वयंगति नहीं कर सकता। जड़ शरीर में भी हलन-चलन आदि उसमें रहे हुए जीव की प्रेरणा को आभारी है। मनुष्य में उसकी बुद्धि इच्छा संज्ञादि के बल से हलन-चलनादि सभी क्रिया नियत होती है। और वायु में वैसी व्यक्त या बुद्धि न होने से अनियत तिर्च्छागमन होता है अतः वायु सजीव है। वनस्पतिकाय में तो अनेक लक्षण मनुष्य के समान दिखायी देते हैं। केतकी, आम्रवृक्ष, वड आदि का मूल में से बाहर आना, उसका जन्म है फिर बाल्यादि अवस्थाएँ-क्रमशः प्रकट होती हैं। लजामणी, बकुलवृक्ष आदि में लज्जा स्पष्ट दिखायी देती है। मनुष्य के अवयवों के समान वनस्पति में अंकुरे, पत्र, शाखा-प्रशाखा प्रकट होती है। स्त्री की योनि समान वृक्षों के पुष्पों में से संतति सम फल उत्पन्न होते हैं, मनुष्य में निद्रा-जागृतावस्था समान घावडी-प्रपुनाट आदि के पत्र, सूर्य विकाशी कमल आदि सूर्यास्त के समय संकुचित शुष्क एवं उदय के समय प्रफुल्लित होते हैं, घुवड सम, चंद्र विकासी पुष्प रात को प्रफुल्लित एवं दिन में संकुचित होते हैं। शरीर से कटे हुए अवयव शुष्क होते हैं वैसे पत्र-फल-पुष्प शाखादि वृक्ष से कट जाने पर शुष्क होने लगती हैं। मनुष्य सम वनस्पति आहार-पानी से जीवंत है। अनेक प्रकार की हिफाजत रखने पर भी आयुष्य पूर्ण होने पर मानव जी नहीं सकता वैसे वनस्पति का रक्षण करने पर भी स्व-स्वकाल पूर्ण होने पर अचित्त बन जाती है। उसे भी मनुष्य

सम विविध रोग होते हैं और वे चिकित्सा से दूर भी होते हैं। मनुष्य के शरीर में विपर्यासता है वैसे वृक्षों में भी किसीके पत्र गिर जाते हैं, किसी की शाखा-प्रशाखा टेढी हो जाती है। लकवा के समान वृक्ष सजीव होते हुए भी उसकी कोई शाखा सुख जाती है। बन्ध्या स्त्री सम किसी वृक्ष को फल लगते ही नहीं, वृक्ष की कितनी ही जातियों में नरमादा का भेद भी होता है। इत्यादि अनेक लक्षण मनुष्य सदृश स्पष्ट दिखायी देते हैं। जन्म, बाल्यकाल, यौवन, वृद्धत्व, मरण, लज्जा, हर्ष, शोक, रोग, संज्ञा शीतादि अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्शों की असर इत्यादि जीवन की सिद्धि के अनेक प्रमाण वनस्पति में स्पष्ट हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी वनस्पति आदि एकेन्द्रिय में जीवत्व माना है।

अन्य जीवों को किसी भी प्रकार का दुःख हो वैसी सभी प्रवृत्ति को दंड कहा गया है। उसे दंड से मुक्त होने हेतु सद्‌गुरु भगवंत उपदेश सुनावे तब शिष्य का कर्तव्य है कि उसका स्वीकार करे। वह स्वीकार जावज्जीव के लिए करना चाहिए। अतः मूल पाठ के 'करेमि' आदि पदों में वर्तमान काल का प्रयोग है वह भविष्यकाल के अर्थ में समझना अर्थात् आज से जीवन पर्यंत दंड के त्याग की प्रतिज्ञा समजनी। और सद्‌गुरु केआमंत्रण हेतु 'भंते' पद है। 'इससे प्रत्येक प्रतिज्ञा व्रत-नियमादि सद्‌गुरु के समक्ष लेना चाहिए' ऐसा दर्शाया है। त्रिविध-त्रिविध का अर्थ तीन योग द्वारा-तीन प्रकार की क्रिया से दूर रहने का समझना। पूर्व पाप का प्रतिक्रमण अर्थात् निंदा अर्थात् आत्म साक्षी से किये हुए अशुभ कार्यों की प्रतिपक्ष वाली विचारणा, गर्हा अर्थात् सद्‌गुरु समक्ष पापों का स्वीकारकर उसका निरोध करना ऐसा भेद समझना। बहिरात्म भाव में रमणता कारक आत्मा को वोसिराता हूँ। इस प्रकार उन-उन शब्दों का वह-वह अर्थ-भाव इसके बाद के सूत्रों में भी समझना। इस प्रकार पापों का प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा आदि करने से पाप की अनुमोदना रूक जाती है। इसलिए यह आचरणीय है। ऐसा न करने से 'अनिषिद्धं अनुमत' इस न्याय से अनिषेध से अनुमोदना द्वारा कर्मबंध चालु है।

त्याग के अध्यवसाय के बिना प्रत्याख्यान निष्फल है ऐसा कहा गया है 'प्रत्येक प्रत्याख्यान उसके परिणाम पूर्वक करना चाहिए' ऐसा निश्चय नय के आधार से कहा जाता है। व्यवहार नय से भी उन-उन अध्यवसायों को प्रकट करने का ध्येय होना चाहिए। जिस क्रिया में अध्यवसाय न हो और उसको प्रकट करने का ध्येय भी न हो तो वह प्रत्याख्यान मृषावाद रूप है। क्रिया, धर्म के प्रयत्न-साधन रूप है और धर्म आत्मा के अध्यवसाय रूप है अतः अध्यवसाय या उसको प्रकट करने का ध्येय दोनों में से एक भी न हो तो क्रिया करते हुए भी धर्म नहीं कहा जाता।

इन प्रत्येक सूत्रों में शिष्य प्रतिज्ञा करता है। इसका कारण यह है कि प्रतिज्ञा किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए आवश्यक तत्त्व है। दृढ संकल्प के बिना साध्य की

सिद्धि नहीं होती। संकल्प का बल प्रतिज्ञा से सहज प्रकट होता है। लौकिक व्यवहार भी प्रतिज्ञा पर चलता है, तो लोकोत्तर के लिए क्या पूछना, प्रतिज्ञा साधक की एक सहचरी है। किसी भी निश्चय का प्राण या उसके विकास की भूमिका प्रतिज्ञा है। उन्मार्ग में जानेवाले मन को बांधने हेतु प्रतिज्ञा वज्र की शृंखला तुल्य है, नट दोरी पर लक्ष्य पूर्वक कदम रखने से नहीं गिरता, उसी प्रकार साधक प्रतिज्ञा के लक्ष्य में जागृत हो तो चाहे जितने, आशा, तृष्णा, इच्छा या मोह के तुफान आये तो भी वे मोहादि निर्बल बन जातें हैं और साधक जीवनपर्यंत स्वीकृत प्रतिज्ञा के मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है। प्रतिज्ञा का भय कार्य प्रति अनादर या स्वयं की निःसत्वता का द्योतक है।

चलने में ईर्यासमिति का पालन न करना, खड़े रहने में हाथ-पैर जैसे-तैसे रखना या दृष्टि जहाँ-वहाँ घूमानी, बैठने में पैर लंबे चौड़े रखना, जहाँ-वहाँ बैठना, अप्रमार्जित भूमि पर बैठना, पूज्यभावों की आशातना हो वैसे पीठ आदि पर बैठना आदि, शयन करने में लम्बे समय तक, बार-बार, या अकाल में सोना, संथारा बिछाकर ही रखना आदि, भोजन में कारण से या निष्कारण से मादक आहार लेना, सादा आहार भी काग-शियाल सम अविधि से वापरना आदि, बोलने में गृहस्थ की भाषा में, निष्ठुर शब्दों में या गुरु की बात में बीच में बोलना आदि उस-उस विषय में अयतना समझना।

उपर दर्शित अयतना को दूर कर ईर्यासमितिपूर्वक चलने से हाथ, पैर आदि लम्बे चौड़े किये बिना शांत-सभ्यतापूर्वक खड़े रहने से उचित प्रमार्जित भूमि पर उपयोग पूर्वक प्रमार्जना कर बैठने से, रात में मर्यादित समय तक समाधिपूर्वक शयन करने से, कारण से कल्प्य, निर्दोष-प्रमाणोपेत-पथ्य आहार का भोजन करने से और मधुर शब्दों में हितकर-अवसरोचित वचन साधु की भाषा में बोलने से उन-उन विषय की यतना होती है। यतना करने से आश्रव का रोध और साध्वाचार का पालन होने से पाप कर्म का बंध नहीं होता।

ज्ञान अर्थात् जीवों का (द्रव्य-गुण-पर्याय से) स्वरूप, उसकी रक्षा का उपाय और उसका फल आदि विषयों का ज्ञान और दया अर्थात् संयम के सभी अनुष्ठान समझना। आत्म स्वरूप को इस प्रकार जाने बिना या ऐसे ज्ञानी पुरुष की निश्रा प्राप्त किये बिना स्वकल्पनानुसार किया हुआ अनुष्ठान दिखने में शुभ हो तो भी साध्य शून्य होने से निष्फल होता है, अर्थात् करते हुए भी वस्तुतः न करने जैसा बनता है और अज्ञानी भी ज्ञानी की आज्ञानुसार वर्तन करे तो मासतुष मुनि सम कर्मों को काट सकता है। यही सद्गुरु निश्रा का रहस्य है।

वर्तमान में तो गुरु आज्ञा की प्राधान्यता विशेष समझनी चाहिए। गुरु आधीनता से मन की दौड़ रूकती है। इच्छाओं का रूंधन, विनय पालन आदि अनेक लाभ मिलते

हैं। स्वमति अनुसार वर्तन से वस्तुतः मन की ही सेवा होती है और परिणाम में दोष का पक्ष, गुणों का द्वेष, उत्सूत्र वचन, आदि विविध दोष प्रकट होते हैं। वर्तमान में विशिष्ट ज्ञानियों का अभाव है। फिर भी 'संयम खप करतां मुनि नमिये देशकाल अनुमाने रे' यह उपाध्याय श्री यशोविजयजी का वाक्य हृदयंगमकर ऐसे उत्तम गुरु की निश्रा में रहकर आराधक बनना हितकर है।

अकेले ज्ञान को पंगु एवं अकेली क्रिया को निष्फल बतायी है। कहा भी है कि 'ज्ञानस्य फलं विरतिः'। अर्थात् त्याग-वैराग्य बिना का ज्ञान, फल रहित वन्ध्या तुल्य है और केवल क्रिया का पक्ष अंधात्मा की क्रिया तुल्य अहितकर है। इस विषय में निश्चत-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद से विधि-निषेध विशेष है। अतः आत्म साक्षी से ऋजुभाव द्वारा बहिरात्मदशा दूर हो और अंतरात्म दशा प्रकट हो वैसे मार्ग पर चलना हितकर है।

वृद्धवाद ऐसा है कि वेश्या जहाँ रहती हो उस मार्ग से गोचरी हेतु जाने से चित्त का आकर्षण होने से चोथे व्रत में, आहारादि ग्रहण करते शुद्धि में अनुपयोग से हिंसा होने से प्रथम व्रत में, उस स्त्री को, प्राप्त करने, पहचानने बोलने आदि में द्वितीय व्रत में, तीर्थंकर अदत्त होने से तृतीय व्रत में, स्त्री में ममत्व होने से पंचमव्रत में अतिचार लगते हैं। परिणाम में भाव से संयम के परिणामों का नाश और द्रव्य से वेष भी छोड़ने का बनता है, ऐसे एक दोष से पांचों महाव्रतों का भंग होकर उससे द्रव्यभाव चारित्र की हानि होती है।

जो कि साधु को विविध अचित्त पानी लेने का आगमों में विधान है फिर भी ग्राहक-दाता के भाव धर्म की रक्षा के ध्येय से या अन्य कारणों से यह विधि वृद्ध परंपरा से बंध दिखती है। वर्तमान में तो केवल तीन उकाले वाला शुद्ध पानी लेना यही प्रथा है। गुड-शक्कर आदि के धोवण, द्राक्षादि फलों का पानी तैयार करने में अथवा लेने में लोलुपता होने से आधाकर्मी आदि दोषों का संभव है। इसमें उबाले हुए पानी में भी अधिकता से आधा कर्म आदि दोष लगतें हैं तो भी उससे रस लोलुपता से बचने रूप भाव धर्म की रक्षा शक्य है। हा, चाहे उतना मिलने से उसका उपयोग बढ़ता है यह हितकर नहीं है, अतः आत्मार्थी साधु को विवेक करना आवश्यक है। गृहस्थ के जीवन में धन की मुख्यता होने से उसमें धन खर्च न हो या कम हो तो ऐसी वस्तु के दान को गृहस्थ महत्त्व न दे, पर साधु जीवन में धर्म की मुख्यता होने से संयम धर्म का नाश न हो वैसी अति मूल्यवान भी किंमत बिना की एवं संयम में उपकारक अल्प मूल्य वाली भी अति मूल्यवान माननी चाहिए। अर्थात् साधु को घी या पानी निर्दोष हो तो दोनों समान उपकारक हैं। दोषित आहार सम दोषित पानी भी संयम को हानि करता है। फिर

भी अनिवार्य होने से दोषित लेना ही पड़ता है तब उसका उपयोग कम होना चाहिए। पूर्व काल के महर्षि अल्प आवश्यकता वाले पानी को घर-घर से प्राप्तकर निर्वाह करते और उससे संयम की भी निर्मलता रहती थी। यह विधि नष्ट होने से एवं उबाला हुआ पानी अति प्रमाण में मिलने से आवश्यकता भी बढ़ती गयी। प्रायः दोषित होने से संयम मलिन होने लगा और **आर्शीवाद रूप साधुजीवन गृहस्थों के लिए भार रूप बनता गया।** इस प्रकार लाभ के बदले हानि होने से प्रसंगों का विचारकर संयम के खपी आत्माओं को इसका विवेक करना चाहिए। 'घी हो या पानी उसका एक बिन्दु भी निरर्थक वापरने में या परठने में समान दोष है' इस वचन को पुनः पुनः यादकर आत्मार्थी को संयम निर्मल बने प्रभावक बने वैसा वर्तन करना हितावह है।

कभी-कभी गृहस्थ की दाक्षिण्यता से या उसकी भावना की रक्षा के लिए गीतार्थ साधु स्व इच्छा के बिना भी ग्रहण करें। कारण कि गोचरी गये हुए गीतार्थ को स्याद्वाद दृष्टि से लाभ हानि का विचारकर वर्तन करने का अधिकार है। ऐसा होते हुए भी 'सर्वत्र संयम की रक्षा और संयम में अपवाद का सेवन कर भी आत्मा की रक्षा करनी' ऐसा कहा हुआ होने से अयोग्य वस्तु को वापरे नहीं, वपरावे नहीं। इससे रत्नाधिक भी अयोग्य वस्तु लघु साधु को न दे। बाहर से आने पर ईरियावहि सामान्य से है ही फिर भी वसति में परठे तो भी ईरियावहि प्रतिक्रमण अवश्य करे।

गोअरचरिआए एक उत्तम चिंतन है। इसमें श्री जिनेश्वर देव का उपकार, साधु का कर्तव्य, गोचरी का उद्देश, दोष दूर करने की प्रेरणा, और देह रक्षा की आवश्यकता आदि अनेक सूचन हैं। इससे आहार की लोलुपता, और शरीर की ममता दूर होती है आराधना में अप्रमत्तता, निर्दोष आहार की वृत्ति, और यह श्री परमोपकारी देवाधि देव प्रति कृतज्ञ भाव का प्रकटीकरण हो ऐसा अमृत है। यह चिंतन यथार्थ बनने पर साधु जीवन दोष रहित बनता है। वस्तुतः गोचरी की आलोचना एक शुभ भाव से भरपूर सुंदर आत्मोपकारक अनुष्ठान है।

रोगी, तपस्वी, क्षुधालु, बाल आदि साधुओं को गुरु की आज्ञा से एकाकी गोचरी करने की विधि भी है, शेष साधुओं को सभी मंडल के साथ में ही गोचरी करने की विधि होने से आहार मंडली कही हुई है। साधु को इस विधि से दान धर्म के साथ गुणवानों की सेवा द्वारा गुणों की सेवा होती है, उदर भरिता दूर होती है, औचित्य धर्म का पालन होता है और परस्पर मैत्री प्रीति और वात्सल्य की वृद्धि होती है, गृहस्थों के समान रत्नाधिक साधुओं का भी धर्म है कि सभी को संतोषित कर गोचरी करें।

पात्र पहोलाई वाला हो तो गिरे हुए या उडते जीव, मक्खी आदि को बचा सकते हैं। खाते समय नीचे गिराने से कीडि आदि का उपद्रव, वे ले जाय तो अविरति का पोषण

और छोडने पर भोगांतराय कर्मबंध होता है, आदि दोष समझना।

हक्क से लेना उसको भिक्षा कैसे कही जाय? दातार इच्छानुसार दे या न दे तो भी प्रसन्न रहना, उसमें सामायिक है। क्रोध से उस सामायिक की विराधना होती है। अतः कोप न करना, न मांगना, मांगने से असद्भाव एवं कठोर शब्दों से अपमानादि होता है। वंदन करते हुए देख कर, प्रेम न करे, वंदन करे और न दे तो भी तुं व्यर्थ वंदन करता है 'ऐसे कटु-कठोर शब्द भी न कहे'।

हाँ, आगमों में चिलाती पुत्र एवं सुसमा की किंचित् कथा को दर्शाकर कहा है कि जब चिलाती पुत्र सुसमा के मस्तक को काटकर ले गया और सुसमा के पिता ने अपने पुत्रों के आहार बिना प्राण जाने की परिस्थिति को देखकर कहा कि मुझे मार कर खाओ और तुम्हारे प्राण बचाओ वहां उनके चारों पुत्रों ने भी यही कहा। तब पिता ने अपनी पुत्री के मृत देह के मांस को खाने की बात की और सभी ने उसे स्वीकारकर जीवन बचाया और भोगोपभोग कर्ता बने। उसी प्रकार साधुओं के लिए आहार, कारण की उपस्थिति में ही करना है। वह देह की सुरक्षा भी संयम की आराधना हेतु करनी है। इस भावना से आहार करनेवाले मुनि देह को संयम पालन में उपयुक्त बनाकर निर्वाण सुख के उपभोक्ता बनते हैं।

'अहिंसा परमोधर्मः' ऐसा कहने पर भी अहिंसा का पालन हो वैसे आचारों का कथन अन्य धर्मों में नहीं है अतः उनकी अहिंसा कहने मात्र की है। स्वर्ण के पानी से युक्त पीतल की शोभा कितने समय की? छेद या ताप की परीक्षा न हो उतने समय की। हेयोपादेय तत्त्वों को, कर्तव्याकर्तव्य का वर्णन जैसा किया हो और उसका पालन हो सके वैसे आचारों का वर्णन भी हो तो वह कथन सत्य माना जाय। जैन शासन में अहिंसा का जैसा वर्णन किया है। उसी प्रकार उसका पालन हो वैसे आचार भी दर्शाये हैं। जैसे स्वर्ण की परीक्षा कष-छेद-ताप से होती है वैसे धर्म शास्त्रों की परीक्षा भी कष-छेद-ताप से करने की है तीनों में शुद्ध वह शास्त्र शुद्ध। करणीय का विधान, अकरणीय का निषेध, वह कष शुद्ध शास्त्र, विधि-निषेध के अनुसार आचारों का वर्णन हो वह छेद शुद्ध शास्त्र, हिंसा आदि पापों का निषेध कर, धर्मानुष्ठान हिंसादि पाप कारक बताये हो तो छेद परिक्षा में अशुद्ध। ये दोनों हो पर आत्मादि द्रव्य एकांत नित्य एकांत अनित्य बताये हो तो धर्म का फल आत्मा को मिलता ही नहीं अतः पदार्थ को एकान्त नित्य या एकांत अनित्य दर्शक आगम शास्त्र ताप सेअशुद्ध। जिन, आगमों में स्याद्वाद दृष्टि से आत्मादि पदार्थों का कथंचित् नित्यानित्य आदि बताये हों। वे ही शास्त्र ताप से शुद्ध होने से संपूर्ण शुद्ध हैं। प्रभु महावीर दर्शित अहिंसा कष-छेद-ताप से शुद्ध एवं सूक्ष्म है उसके पालन हेतु मन एवं इंद्रियों का पूर्ण संयम आवश्यक है अतः त्रिविध-त्रिविध भंग

से हिंसा का त्यागकर अहिंसा का पालन करना यह श्रमण आचारों का प्रथम स्थान कहा है।

ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ ब्रह्म अर्थात् आत्मा उसके स्वरूप में रमणता ऐसा, और व्यवहार से मैथुन छोड़कर वीर्य की रक्षा करनी ऐसा होता है। तीनों जगत में ब्रह्मचर्य का महत्त्व सर्वाधिक रहा है। देवों को भी असाध्य है, **दैवीशक्ति न कर सके वैसे दुष्कर कार्य ब्रह्मचारी मनुष्य कर सकता है।** आत्मा के छोटे-बड़े सभी गुणों का विकास ब्रह्मचर्य से होता है। उसका पालन दुष्कर-अति दुष्कर होने से सभी व्रतों में मुख्य माना है।

मनुष्य की ही मुक्ति हो सकती है। कारण कि ब्रह्मचर्य का यथार्थ पालन मनुष्य ही कर सकता है। इस शक्ति के कारण ही ज्ञानियों ने मनुष्य को मुक्ति की साधना का उपदेश किया है। ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्य रक्षा एवं भाव रक्षा किये बिना शेष स्थानों का पालन दुःशक्य है। **वीर्य एवं भाव मनुष्य की सर्वदेशीय शक्ति है।**

वीर्य को धातु भी कहा है। जैसे 'गम् रम् नम्' आदि धातुओं से शब्द बनता है, स्वर्ण-ताम्र आदि धातु से सभी संपतियों का सर्जन हो सकता है, वैसे शरीर की विविध शक्तियों का मूल वीर्य नाम की धातु है। वीर्य से उष्णता, प्रकाश, बीजली, आकर्षण आदि शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं। उससे जगत के स्थूल-सूक्ष्म सृजन होते हैं। वीर्य से शरीरबल, उसमें से मनोबल, उसमें से बुद्धि और बुद्धि से आत्म बल प्रकट होता है। वस्तुतः मैथुन सेवन से विकार कम नहीं होता। पर वीर्य रक्षा से प्रकटित सत्त्वगुण से अनादि वासना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य जैसे-जैसे क्षीण वीर्य होता है वैसे-वैसे पांचों इंद्रियों की वासना बढ़ती है और प्रकृति पर की पकड़ छूटती है। कोई उन्मादी पागल भी बनता है, कोई मौत के वशीभूत होता है। ब्रह्मचर्य से वीर्य रक्षा करने वाले योगी का सत्त्व खीलता है। उससे काया-वचन एवं मन पर काबू प्राप्तकर उसके द्वारा क्रमशः सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को विकसित करते हुए यावत् मुक्ति सुख को भी प्राप्त करता है। मन पर विजय प्राप्त करना यही भाव रक्षा है।

वीर्य रक्षण के साथ उसकी शुद्धि के लिए आहार भी निर्दोष, अहिंसक और पवित्र चाहिए। अतः जैन साधु की भिक्षा की विधि सभी से विशिष्ट-निर्दोष अहिंसक कही है। आहार शुद्धि न हो तो ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा करते हुए भी उस वीर्य से काम-क्रोधादि के आधिन होकर ब्रह्मचर्य का नाश करता है। अतिशयोक्ति के बिना ऐसा कहा जा सकता है कि आशाओं एवं इच्छाओं पर विजय पाने हेतु ब्रह्मचर्य एक अमोघ और सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

कर्म साहित्य में वीर्यान्तराय नाम का कर्म माना है। उसके क्षयोपशमादि ब्रह्मचर्य

से होते हैं। विनय वैयावच्च या अनशन उपवासादि तप आदि भी अपेक्षा से ब्रह्मचर्य के ही अंश है अतः उससे वीर्यान्तराय का क्षयोपशम आदि होता है स्पर्शेन्द्रिय को जीतने के साथ पांच इंद्रियों को जीतने से ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है अतः पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य पांचों इंद्रियों के पर विजय पाना है।

वीर्य जैसे मैथुन सेवन से नष्ट होता है वैसे शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श आदि विषयों में आसक्ति से, राग, द्वेष करने से, कषाय से, चिंता से, आदि अनेक दोषों से नाश होता है। काम की बाईस अवस्थाओं में, दश असंप्राप्त काम की एवं बारह संप्राप्त काम की है उस प्रत्येक से ब्रह्मचर्य का नाश होता है। उसक स्वरूप अन्य ग्रन्थों से जानकर ब्रह्मचर्य पालन करना अत्यावश्यक है।

वीर्य का अपर नाम बीज भी है कारण कि वह सभी सुखों का मूल बीज है। शिवसंहिता में 'एक बिन्दु का पतन यानि मरण एवं बिन्दु की रक्षा यानि जीवन' कहा है। वह वचन भी उसकी शक्ति का ज्ञापक है। सोलवें उतराध्ययन की १४वी गाथा में भी ब्रह्मचर्य को ध्रुव, नित्य, शाश्वत धर्म कहकर उसके बल से अनंत आत्मा सिद्धि को पाये, पाते हैं और पायेंगे कर कहा है। सभी धर्मों में ब्रह्मचर्य का महत्त्व विशेष रूप से गाया है। उसका यथार्थ स्वरूप तो ज्ञानी भी नहीं कह सकते।

आगमों में अब्रह्म की दुष्टता का जो वर्णन किया है वह अर्थापतिसे ब्रह्मचर्य के महत्त्व को बताने के लिए है। अब्रह्म भयंकर, प्रमाद, दुराचार अधर्म का मूल एवं महा दोषों का घर है। उसके विरुद्ध ब्रह्मचर्य भद्रंकर, सदाचार, धर्म का मूल और सभी गुणों का निधान है। उसके बिना अहिंसादि शेष स्थानों का पालन शक्य नहीं है। अतः इसका महत्त्व सर्वाधिक है। इसकी रक्षा हेतु कही हुई नववाड़ को ब्रह्मचर्य जितना ही महत्त्व देकर पालन करने से ब्रह्मचर्य का रक्षण हो सकता है। नववाड़ों का अनादर करने वाले महायोगी का भी ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहा नहीं एवं सुरक्षित नहीं रह सकता।

एकाशन तप नित्य-अप्रतिपाति इस कारण से है कि उससे अहित कुछ नहीं होता है और तप उपरांत दूसरे भी गुणों की वृद्धि होती है। इस प्रकार एकान्ते लाभ का व्यापार होने से नित्य है। तप कभी नुकशान नहीं करता। संयम में अनुकूलता रहे उस प्रकार शरीर की रक्षा पूर्वक एकबार भोजन करना। उसमें संतोष, लोलुपता का अभाव, रसना विजय, संयम वृद्धि आदि विशिष्ट गुणों का ध्येय होने से उपवासादि तप से भी विशेष निर्जरा है।

एकबार भोजन करना वह द्रव्य से और कर्मबन्ध न हो वैसे राग-द्वेष तजकर लेना भाव से, एक श्रेष्ठ अद्वितीय अतः भाव से समझना। वह भी दिन को ही रागद्वेषादि दोष सेवन रहित, अन्यथा, द्रव्य से एकबार भोजन भी भाव से एक भक्त नहीं होगा।

अपवाद भी जिन कथित होने से जिनाज्ञा रूप है। संयम रक्षा हेतु निष्कपट भाव से उसका आश्रय कर्ता आराधक है। इससे विपरीत निष्कारण, प्रमाद, या कपट से अपवाद का आश्रय कर्ता विराधक है। निष्कारण अपवाद सेवन से विराधकता के समान, सकारण अपवाद सेवन न कर उत्सर्ग का दुराग्रह करने से भी विराधक बनता है। अपवाद उचित अवस्था में अपवाद एवं उत्सर्ग उचित अवस्था में उत्सर्ग सेवन ही आराधकता है।

पृथ्वी अनेक प्रकार के त्रस जीवों की उत्पत्ति का एवं रहने का स्थान है। जल का स्वभाव पृथ्वी का भेदन कर नीचे जाने का है। शरीर का मेल एक विषरूप है। उससे स्नान का पानी विषाक्त बनता है और वह विषाक्त पानी अनेक जीवों के प्राण हरण करता है। स्नान करने से अहिंसा व्रत का स्पष्ट नाश है।

स्नान आरामदायक है, मन प्रसन्न होकर दुर्विचार वर्धक बनता है। स्नान बाह्य सौंदर्य की वृद्धिकर होने से बाह्य सुखार्थी जीव उससे दूर नहीं रह सकते। इसका त्याग करना महाव्रत है। स्नान त्याग दुष्कर मनो विजय है। जल शौच जिन्होंने करणीय माना है वे उसके दुष्परिणामों को भुगतते ही हैं। जलस्नान को अकरणीय मानने वालों में भी किन्हीं लोगों ने भस्म स्नान, सूर्यस्नान मान लिया है। स्नान ब्रह्मचर्य का घातक है, स्नान से भी अधिक देहशुद्धि का पालन हो वैसे जैन साधु के आचार हैं। आहार-निहार-विहार में जिनकथित मर्यादा पालन से आरोग्य पवित्रता अखंडित रहती है। पसीना अल्प होने से मल भी अल्प होता है।

असाधु को साधु, साधु को असाधु कहना उसे मिथ्यात्व की संज्ञा कही है। ऐसा कहने से असाधुओं की पूजा होगी, सुसाधुओं का अनादर होगा। अधर्म बढ़ेगा। इससे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बंध होता है। साधुता गुण रूप होने से निश्चय नय से गुणवान को ही साधु कहा जाता है। व्यवहार से मूलगुण विराधना जैसे दोष न जाने हो तब तक साधुवेष वाले को साधु कहे। दोष जानने के बाद भी संघ मान्य हो, किसी संघ के कार्य में उसके सहाय की आवश्यकता हो तो बाह्य से साधु कहे ऐसा कहने में संघ-शासन के कार्य का ध्येय होने से दोष नहीं है। तत्त्व से साधु माने तो दोष लगे। अतः साधु कहते हुए भी साधु माने नहीं।

वर्षादि के विषय में निश्चयात्मक वाक्य के उच्चारण से हिंसा की अनुमोदना, हवा, ताप, वर्षा से होनेवाली जीव विराधना का पाप लगता है। कह दे और न बने तो शासन लघुता का पाप, आर्त्तध्यान आदि होने का संभव रहता है। अतः ऐसा न कहे।

भाषा औषध तुल्य है। आत्महित हो वैसे उसका प्रयोग करना वही पुण्य से प्राप्त वचन शक्ति की सफलता है। अनंतकाल पश्चात् संज्ञीपने में प्राप्त स्फूट वाग्योग का

आत्महित साधना में उपयोग करना यही जिनाज्ञा है। निश्चय से दूसरे के लाभ हेतु नहीं पर स्वयं के कर्म निर्जरा हेतु बोलना है। इस लक्ष्य में परोपकार सम्मिलित है ही। कर्म बंध के भय बिना भाषक की भाषा से कर्मबंध एवं अपकार होने का विशेष संभव है। स्व-पर हितकारी वचन बोलने हेतु शिक्षण लेना भी आवश्यक है। वैद्यक या डॉक्टरों की किंमत औषध से नहीं औषध की योजना पर है। वैसे भाषा की किंमत शब्दों की योजना पर निर्भर है। साधु एवं गृहस्थ सभी को स्वयं की कर्म निर्जरा पूर्वक श्रोता का हित हो उतना ही बोलना चाहिए। समय की अनुकूलता पूर्वक बोलने हेतु मार्गदर्शन अध्ययन से ही प्राप्त होता है। यथायोग्य बोलने का अध्ययनकर बाद में यथायोग्य बोलना जिससे स्वपर का हित हो।

जो-जो साधु भगवंत मूलगुण रूपी गुणों में सुस्थित अर्थात् निरतिचार तथा मूलगुणों का परिपालन कर रहे हैं, उनके वचन घृत से सींचन किये हुए दीपक की ज्योत के समान देदीप्यमान होते हैं। मूलगुण से रहित आत्माओं के वचन घृत रहित दीपक के समान शोभा नहीं देते। उनके वचनों का कोई आदर नहीं करता।

(१) सूक्ष्म अप्काय : पांच प्रकार से (१) आकाश से होती सूक्ष्मवर्षा ओस (२) हीम (बर्फ) (३) धूम्मस (४) करा (५) जमीन में से निकलने वाले वनस्पति के अंत में छोटे जलबिंदु होते हैं वे।

(२) सूक्ष्म पुष्प : पांच प्रकार से (१) काले (२) नीलवर्ण के (३) लाल (४) पीले (५) श्वेत उपलक्षण से बादामी केसरी आदि सभी मिश्रवर्ण के भी समजना। इतने सूक्ष्म वृक्ष के वर्ण जैसे होते हैं जो सूक्ष्म दृष्टि से ही जाने जा सकते हैं।

(३) सूक्ष्म बीज : उपर दर्शित पांचों वर्ण एवं हजारों अवान्तर वर्णवाले कुंथुआ आदि इतने सूक्ष्म होते हैं जो हलन-चलन से ही पहचाने जाते हैं।

(४) उतिंग : जीवों के घर पांच प्रकार के (१) उतिंग जाति के जमीन को भेदकर अंदर पोलाण के भाग में गधैया के आकार वाले जीव। (२) पानी सूख जाने पर पृथ्वी के कटे हुए भाग में रहनेवाले जीव (३) सरलबीज जो पृथ्वी की उंडाइ में होते हैं। उसमें रहनेवाले जीव (४) ताल मूल के आकार जैसा बील ऊपर से छोटा अंदर से बड़ा, उसमें रहनेवाले जीव (५) भ्रमर भ्रमरी के घर उपलक्षण से अनेक प्रकार के जीव दीवारों के कोने में, जाले आदि बांधकर रहनेवाले अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव।

(५) सूक्ष्म पनक : पांचों वर्ण वाले हजारों अवान्तर वर्णवाले जीव जिसे लीलफुग कहते हैं। जिस पदार्थ में जल का अंश हो या वर्षा से आद्र हवा लगे, उस-उस पदार्थ में वस्त्रादि, स्नानादि का जल न सुखे तब उसमें पापड़ आदि में, फलादि सड़ने पर शुक्ल वर्ण वाले जीव, नरम चासणी वाले पदार्थों में, काष्टादि में ऐसे अनेक प्रकार के स्थानों

में, नाली के दोनों और पानी न सूखे वहाँ पर लीलफुगरूप में जीव उत्पन्न होते हैं।
(६) **सूक्ष्म बीज :** पांच मूल वर्ण हजारों अवांतर वर्णवाले वड़, पुष्पादि के जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि सूक्ष्म दृष्टि से ही जाने जा सकते हैं। धान्य के कण में जो अग्रभाग होता है। उसमें प्रायः बीज का जीव रहता है। इससे कण के टुकड़े होने पर भी अग्रभाग अखंड हो तो सजीव होने का संभव है।
(७) **सूक्ष्मवनस्पति :** पृथ्वी के समान वर्ण वाली अवान्तर अनेक वर्णवाली। वर्षा के आरंभ में ऐसे सूक्ष्म अंकुरे प्रकट होते हैं जो सूक्ष्म दृष्टि से ही जाने जा सकते हैं।
*(८) **सूक्ष्म अंडे :** पांच प्रकार के हैं। (१) मधु मक्खी मांकड आदि के उद्देश अंड* (२) उत्कलिका अंड करोलियादि (३) पिपीलिका अंड चीटिंयों के अंडे (४) हलिका अंड घीरोली के अंडे (५) हल्लोलि का अंड काकिंडी के अंडे। इसके उपलक्षण से दूसरे भी जीवों के सूक्ष्म अंडे समझना।

इन अष्ट प्रकार के जीवों को जाने बिना दया का पालन नहीं हो सकता। अतः इसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना का साधु विशिष्ट ज्ञानी की निश्रा के बिना बैठने-उठने या जाने-आने का अधिकारी नहीं माना जाता। जीवाजीव को जाने बिना संयम पालन न होने से विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किये बिना गुरु से अलग विचरने का निषेध है। जिनाज्ञा का अनादरकर संयम की रक्षा कभी किसी ने नहीं की है। विपरीत भव भ्रमण बढ़ता है। अतः उपकारी महापुरुषों ने ज्ञान प्राप्त करने का भारपूर्वक कहा है।

रोगादि कारण से शक्ति हीनता में दूसरे साधुओं को वस्त्रादि पड़िलेहन करने का अधिकार होने से 'सामर्थ्य हो वहां तक' स्वयं को स्वयं की पड़िलेहन करनी। इससे साधु शक्ति होने पर भी दूसरों से काम करवाने की इच्छा न करे। पर दूसरा कोई वैयावच्चादि करनेवाला निर्जरा हेतु करे तो निषेध न करे। दोनों समय वस्त्र पात्रादि की पड़िलेहन करनी है। वसति की पड़िलेहण वर्षाकाल में तीन बार, ऋतुबद्ध काल में दो बार पड़िलेहणकर काजा निर्जीव स्थान पर परठना चाहिए। जीवों का उपद्रव हो तो अनेक बार करे। स्थंडिल भूमि (१) अनापात-असंलोक (२) अनुपघात (३) सम (४) अशुषिर (५) अचिरकालकृत (६) विस्तीर्ण (७) दुरावगाढ़ (८) अनासन्न (९) बीलवर्जित और (१०) त्रस-प्राण-बीजादि रहित ये दस गुण और उनके संयोगी भंग १०२४ वॉ शुद्ध भंग युक्त भूमि देखना इसके उपरांत दूसरी भी विधि स्थंडिल हेतु जानने योग्य है। भांगाओं का स्वरूप धर्मसंग्रह भाषांतर भाग द्वितीय के पृष्ठ १६४ पर है। संथारे के तृण-पाट आदि की पड़िलेहण करनी।

प्रतिलेखना 'संस्कृत' और 'पड़िलेहणा' प्राकृत भाषा के जैनों के पारिभाषिक शब्द हैं। वे शब्द वस्त्र पात्रादि पदार्थ बार-बार देखने के अर्थ में आते हैं। इस क्रिया का

महत्त्व रहस्य विशेष है। वर्तमान में प्रतिदिन प्रतिलेखन करनेवाले जैनो में भी उसे समझने वाले कम होते जा रहे हैं। कितनेक तो मात्र कायक्लेश समझकर करते हुए भी उसके फल से वंचित रहते हैं। प्रतिलेखन में सामान्य हेतु 'जीवरक्षा' एवं जिनाज्ञा का पालन है मुख्य हेतु 'मन मर्कट को वश करना' यह है। मन को वश करने हेतु वस्त्रादि की पड़िलेहण करते समय वे-वे बोल बोलने का विधान है। उन ५० बोलों का वर्णन धर्म संग्रहादि ग्रंथों से जान लेना।

'सूत्र-अर्थ-तत्त्व करी सद्दहु' आदि ५० बोलों का सामान्य अर्थ, विचारणा से समज में आये ऐसा है। रहस्यार्थ में ये मात्र बोल नहीं है पर आत्म शुद्धि के साथ आत्मा को संयम में स्थिर करने वाले महामंत्र हैं। इनमें **१९ बोल मिथ्यात्व मोहनीय एवं ३१ बोल अविरति का नाश करने में सक्षम है।** जिनकथित प्रत्येक अनुष्ठान में आत्म शुद्धि का उद्देश है। प्रतिलेखन का कार्य वस्त्र-पात्र की रज दूर करने मात्र ही नहीं है। इसमें कर्म रज दूर करने की क्षमता है। ऐसी श्रद्धापूर्वक की जानेवाली प्रतिलेखना ही कर्मक्षय में *सहायक है।*

प्रतिलेखन में उन-उन अंगों को वस्त्र का स्पर्श करते हुए बोलने में 'परिहरुं' शब्द उन-उन दोषों का नाश एवं 'आदरुं' शब्द उन-उन गुणों का प्रादुर्भाव करनेवाला है। जीव को हास्य, शोक, रति, अरति आदि भाव कर्मोदय से होते हैं। कर्म पुद्गल-रजस्वरूप है। जैसे वस्त्र के छोर से रज दूर कि जाती है वैसे प्रतिलेखन से कर्मरज दूर हो सकती है। जैसे शरीर के किसी अंग को स्पर्श करने से हर्ष-शोक-अहंकार-काम वासनादि की भावना प्रकट होती है वैसे प्रतिलेखन करते मुहपत्ति आदि से उन-उन अंगों के स्पर्श से वे-दोष दूर हो यह युक्ति संगत है। वर्तमान में 'मेसमरिझम' की क्रिया से सिद्ध बना हुआ यह तत्त्व है। उसी अनुसार रोगादि की शांति हेतु कितनेक व्यवहार आज भी लोक करते हैं। जैसे सर्प-बिच्छु आदि का विष, भूत-प्रेतादि, गरमी की लू आदि को उतारने हेतु वस्त्र के छोर उन-उन अंगों को स्पर्शकर मंत्रोच्चार किया जाता है। उससे लाभ भी होता है। माता, पुत्र के शरीर पर, मालिक स्वयं के अश्व-वृषभ-गो आदि पर प्रेमपूर्वक हाथ फिराता है। तो उनका थाक-शोक दूर होता है। प्रसन्नता प्रकट होती है। आदि अनुभव सिद्ध हैं। धार्मिक अनुष्ठानों में भी ऐसा व्यवहार है। जैसे गायत्री जाप के समय ब्राह्मण हाथ से अंगों को स्पर्श करते हैं, कोइ डाभ नामक वनस्पति से अंग स्पर्श करते हैं और जैनी आत्मरक्षादि स्तोत्रादि के उच्चारण पूर्वक विविध अंगों का स्पर्श करते हैं। उसी प्रकार धर्म क्रियाओं में भी अंग स्पर्श होता है। उस से लाभ भी होता है। लाभ न होने में उस-उस विषय का अज्ञान एवं अश्रद्धा कारणभूत है। प्रतिलेखन की क्रिया विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा आचरित, मानित, उत्तम क्रिया है।

श्री जिनकथित भाव कभी मिथ्या न हुए, न होंगे, आज भी सफल हैं। मात्र ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक उन आचारों का पालन होना चाहिए। जैनशास्त्र प्रसिद्ध वल्कलचिरि प्रतिलेखना द्वारा केवली बने। यह पूर्व भव की प्रतिलेखन की उत्तम क्रिया के उत्तम संस्कारों का फल है। मनोगुप्ति एवं अहिंसा के पालन में प्रतिलेखना अनन्य आलंबन है। मुहपत्ति के बोलपूर्वक सभी वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना उसके रहस्य को समझकर करने से वस्त्र-पात्र आदि भी पवित्र बनते हैं। जिससे वे वस्त्रादि दोष दूर करने में, गुण वृद्धि करने में एवं निर्जरा में सहायक बनते हैं।

गृहस्थ भी सुना और देखा हुआ सभी कहने का अधिकारी नहीं है तो साधु सभी कहे ही कैसे? मनुष्य को निचे का वस्त्र पहने बिना चले ही नहीं, **ऊपर का अंग भी निष्कारण खुल्ला नहीं रखा जाता।** इसमें भी यह रहस्य है। गृहत्याग को सदैव गुप्त रखना और कारण से ऊपर के अंग को 'खुल्ले' रखने सम अहितकर बातें छुपाना, किसी को न कहना एवं हितकर भी प्रत्येक को न कहकर जिनका हित हो उसे ही कहना। यह स्व-पर हितकारी व्यवहार है।

दुष्टभाव विष्टा सम दुर्गन्धि प्रसारितकर सुननेवाले में रंग राग-द्वेष आदि आत्मा के रोगों को और शुभ भाव पुष्पों के समान सुवास प्रसारितकर क्षमादि आरोग्य प्रकट करता है। अतः विष्टादि समान अशुभ बाबतों को गाड़नी-छुपानी-भूल जानी चाहिए। **और आत्महित हो ऐसी बाबतें भी विधिपूर्वक कहनी चाहिए।**

श्रुत-चारित्रवंत सद्गुरु का वचन प्रायः अमोघ होता है, निष्फल नहीं होता, अतः उसको सुनते ही 'तहत्ति' कह स्वीकृत करना चाहिए। और उस प्रकार आचरणकर सफल बनाना चाहिए। 'तहत्ति' ऐसा महामंत्र है कि उसका उच्चारण करते ही शीघ्र कर्म तूटते हैं और कार्य में सफलता मिलती है। 'एवंमेअं, तहमेअं अवितहमेअं, असंदिद्धमेअं, इच्छियमेअं, पडिच्छियमेअं, इच्छिअं पडिच्छयमेअं, सच्चेण, एसमट्ठे से जहेअं तुब्भे वयहत्ति' अर्थात् यह ऐसा ही है, वैसा ही है, सत्य है, निःसंदेह है, मैं ऐसा ही इच्छता हूँ, बार-बार इच्छता हूँ, यह सत्य ही है कि जो आप कहते हो, आदि, कल्पसूत्रादि मूल आगमों के शब्द विनय रूप हैं, विनय से शीघ्र विघ्न भूत अंतराय तूटते हैं, और कार्य निर्विघ्नता से पूर्ण होता है। **उत्तम गुर्वादि का वचन उत्तम होते हुए भी उसका स्वीकार या अमल करने की कला न हो तो वह निष्फल होता है, इतना ही नहीं अनादर करने से अनादर नाम की आशातना द्वारा मोहनीयादि कर्मों का बंध होता है** करने हेतु ही जी, जी, जी आदि बोलते हैं। दश प्रकार की समाचारी में 'तहकार' समाचारी भी इसी कारण कही है। अतः गुरु वचन को निष्कपट भाव से आदरपूर्वक स्वीकार करना और इस अनुसार आचरण करना, यही, साधुता को सफल बनाने हेतु जरूरी है। संपूर्ण श्रुतधर

श्री गौतम स्वामीजी बार-बार प्रभु महावीर देव को पूछते थे और उत्तर श्रवणकर 'तहत्ति' कहते थे। तो सामान्य आत्मा को तो अवश्य वैसा ही करना चाहिए।

काल का पंजा अतर्कित कब गिरेगा ये ज्ञानी बिना कोई नहीं जानता और मरण के बाद पुनः यह धर्म सामग्री मिलनी सुलभ नहीं है। कारण कि सुआराधना से प्रायः देवलोक मिलता है एवं न करने या विपरीत करने से तिर्यंचादि गति प्राप्त होती है। मनुष्य मरकर मनुष्य बनना देवभव से भी दुर्लभ है। फिर भी कदाच मानव भव मिल जाय तो भी आर्य देश, उत्तम कुल आदि धर्म सामग्री तो एक-एक से भी दुर्लभ है। अतः वर्तमान में मोहादि के आक्रमण की रोकथाम हो सके वैसी मर्यादाओं को मजबूत करनी चाहिए। **विशेष करने के ध्येय से भी मर्यादाओं को शिथिल करने से अंत में सर्वनाश होता है, और मर्यादाओं को मजबूत करते हुए अल्प हो तो भी संगीन जिनाज्ञानुसार अनुष्ठान** होने से विशेष उपकार होता है। अतः मार्गानुसारिणी **बुद्धि** से परिणाम दृष्टा बनकर वर्तमान को सुधारना चाहिए।

मानसिक परिणाम होने पर भी वृद्धावस्था, व्याधि एवं इंद्रियों की क्षीणता होने पर परिणाम सफल नहीं होते। इसी कारण ज्ञानियों ने कहा है कि शुभमनोरथ लम्बे समय तक नहीं रहते एवं रह जावें तो सामग्री अनित्य होने से रहनी दुःशक्य है अतः **शुभ कार्यों में विलंब न कर पूर्ण करना चाहिए।**

तथाविध विनयादि से प्रसन्न गुरु शिष्य को सुपात्र समज शास्त्र की रहस्य भूत बातें बतावे-समजावे। अतः निर्मल ज्ञानार्थि को गुर्वादि ज्ञानियों का विनयकर उन्हें प्रसन्न करने चाहिए। विनय से पात्रता प्रकट होती है। और आवरण रूप कर्मों का क्षयोपशम होता है। इससे आत्मा में ज्ञान प्रकाश होता है। **स्वयं पुस्तकें पढ़कर प्राप्त ज्ञान मोह का घात करने में असमर्थ है।** विनय से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का नाश होने से प्रकटित ज्ञान प्रकाश मोहान्धकार का नाश करता है। अतः अध्ययन के स्थान पर बहश्रुतोपासना करने का ज़ो कहा वह विनय से जितना और जैसा ज्ञान प्रकट होता है। उतना या वैसा ज्ञान स्वयं या विनय बिना **अयोग्य के पास पढ़ने से** भी कभी नहीं होता।

आचारांग पढने से शब्दों के लिंगादि का सामान्य एवं भगवतीजी से उन्हीं लिंगादि का विशेष ज्ञान होता है। दृष्टिवाद से प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्ण विकार (भेद, काल, विभक्ति आदि व्याकरण) संबंधी पूर्ण बोध होता है। फिर भी छद्मस्थ होने से **ज्ञानी की भी भूल हो जाय** अतः **उत्तम मुनि की स्खलना सुनकर मश्करी न करें।** फिर सामान्य बोध वाले की स्खलना की हंसी हो भी कैसे? अर्थात् किसी की भूल जानकर मुनि **हंसी-मश्करी करे नहीं।** दृष्टिवाद को पढ़ा हुआ न कहकर पढ़नेवाला जो कहा इसमें हेतु यह है कि दृष्टिवाद को पढ़ने के बाद विशिष्ट ज्ञान के कारण प्रायः उसकी

स्खलना नहीं होती।

एक को उपकार करते समय दूसरे को अपकार हो वह वास्तविक उपकार नहीं है। अतः मुनि किसी जीव को उपद्रव हो वैसी बात उपकार के लिए भी न कहे। किन्तु स्वकर्मोदय रूप दुःख को समता से भोग लेने का उपदेश करे। दुःख में से छूटने का उपाय दुःख के निमित्तों से दूर होना यह नहीं है, पर समता पूर्वक भोग लेना है। दुःख से त्रसित होकर उसके निमित्तों को दूर करने की इच्छा करनी आर्त्तध्यान है। ऐसी समझयुक्त मुनि निमित्तादि मंत्र-तंत्रादि का उपदेश कैसे करेगा?

अकेला होते हुए स्त्रीयों को धर्म कथा कहे तो उसके ब्रह्मचर्य में शंकादि हो अतः औचित्य समझकर पुरुषों को और अन्य साधु साथ में हो तो स्त्रीयों को भी सुनावे। गृहस्थ के परिचय से स्नेह प्रतिबंध लघुतादि दोष होते हैं। अतः उसे छोड़ना और सुसाधु का परिचय कल्याण मित्र के योग्य होने से संयम वृद्धि हेतु करना।

स्त्री के मृत देह को देखकर भी राग होने का संभव है। वैसे चित्र से भी रागोत्पत्ति होती है। अतः सूर्य के सामने दृष्टि लगाने से नेत्रों का तेज नष्ट होता है उसी प्रकार स्त्री के सामने दृष्टि लगाने से आतम तेज (ज्ञानादि गुणों की शक्ति) नष्ट होता है। और मोह का (विकार का) अंधकार छा जाने से स्वयं के कर्तव्य का, जाति का, कुल का, भान या भविष्य के संकटों का भय कुछ नहीं दिखता।

धनिक जैसे चोरों से दूर रहता है और रक्षण पूर्वक रहता है। वैसे चारित्र रूपी धन वाला मुनि स्त्री से दूर और नित्य नव वाड़ रूप रक्षण में रहे। एक भी वाड का भंग न करे।

वसति आदि एक भी वाड़ की उपेक्षा ब्रह्मचर्य का घात करता है। स्त्री संभोग से ब्रह्मचर्य का घात होता है। वैसे विकारी विचार मात्र से भी ब्रह्मचर्य का घात होता है। विभूषादि कार्य विकारोत्तेजक होने से आत्मार्थी को विशेष रूप से छोड़ने चाहिए। जिस द्वार से गृह स्वामी घर में प्रवेश करता है, उसी द्वार से चोरादि भी प्रवेश करते हैं। वैसे ही जो-जो निमित्त शरीर को सुखशाता उपजाने की दृष्टि से सेवन किये जाते हैं, वे ही निमित्त आत्मा में विकार प्रकटकर चारित्र धन को लूट लेते हैं।

मोहोदय होने का कारण होने से आत्मा को स्त्री के अंगोपांगों को देखने का निषेध किया है। स्त्री को देखने का निषेध करने के बाद पुनः अंगोपांगों का निषेध करने का हेतु यह है कि उन अंगोपांग कटाक्षादि एक-एक में इतना सामर्थ्य है कि एक का सेवन भी ब्रह्मचर्य का सर्वथा नाश कर दे। पुरुषप्रधान उपदेश से पुरुष को स्त्री का निषेध वैसे स्त्री को पुरुष के अंगोपांग आदि देखने का निषेध समझना। इसी कारण साधु को स्त्री से दूर रहना चाहिए।

विनय अर्थात् 'स्वयं मान छोड़कर दूसरों को मान-सन्मान का दान करना' ऐसा

अपेक्षा से कहे तो विनय औदार्यता के बिना नहीं हो सकता। बाह्य संपत्ति का दान करना जिसे सहज है उसे भी सन्मान का दान करना दुष्कर है। बाह्य संपत्ति के दान में मान छोड़ना नहीं पड़ता, विपरीत मान की वृद्धि होती है एवं विनय में तो मान छोड़कर दूसरे के मान की वृद्धि करनी पड़ती है।

शास्त्रकार चारों गति के जीवात्माओं में मानव को सर्वाधिक मानी कहते हैं। सम्यग् ज्ञान रहित अज्ञानी ही दूसरों का विनय करने में स्वयं की मान हानि देखता है। जिससे उसे विनय दुष्कर लगता है।

दूसरी ओर से विचार करने पर एक छोटा सा गुण भी विनय के बिना वास्तविकता से प्रकट न होने से ज्ञानियों ने **विनय को धर्म का मूल** कहा है।

अज्ञानी आत्मा, ज्ञान-सुख-तप-यश-स्थविरता आदि का अहंकारकर कृत्रिम आनंद को वास्तविक आनंद मानकर भवोभव का परिभ्रमण बढ़ाता है।

ज्ञानी पुरुष गुण संपत्ति के स्वभाविक आनंद का अनुभव करते हैं। स्वभाविक आनंद में अहं नहीं होता। जैसे जल में लाख का वजन नहीं होता। वास्तविक ज्ञानी में बाह्याभ्यंतर संपत्ति प्रकट होगी वैसे-वैसे वह नम्र बनेगा।

मनुष्य में मान अधिकता से है वैसे मान तजने की शक्ति भी मानव में ही विशेष है। उसीसे मानव मोक्षाधिकारी है। मोक्ष के निमित्त कारणों में यह भी एक निमित्त कारण है।

स्थूल दृष्टि से दूसरों को मान देना दिखायी देता है पर वास्तव में विनय करनेवाले का मान-महत्त्व बढ़ता है। आत्म संपत्ति का विकास होता है। उसकी गणना महापुरुषों में होती है। अनेक आत्मा उसका आदेश ग्रहण करते हैं। उसमें उन सब को सन्मार्ग पर लगाने की शक्ति प्रकट होती है। विनय की शक्ति का वर्णन करने की शक्ति मानव में नहीं है।

'वनो वैरी ने वश करे' अर्थात् विनय दुश्मनों को भी वश में कर लेता है। मानव मात्र की सच्ची शोभा विनय से है तो फिर साधु पद पर रहे हुए आत्मा के लिए क्या कहना? राज्य सिंहासन पर बैठे चक्रवर्ती से भी गुरु के सामने नत मस्तक खड़ा साधु विशेष शोभा को पाता है। 'देवो वि तं नमंसति' का एक कारण साधु का विनय गुण है। जो देव-दानव एवं राजा-महाराजाओं में भी दुर्लभ है।

विनय के दो भेद : (१) द्रव्य विनय (२) भाव विनय। नेतर, स्वर्ण आदि पदार्थ में रही हुई नम्रता द्रव्य विनय है। भाव विनय के पांच भेद हैं।

(१) लोकोपचार विनय : लोकानुसरण करना, खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि पूजा आदि वैभवानुसार इष्ट देव की पूजा आदि।

(२) अर्थ विनय : धनार्थे राजा-शेठ आदि का विनय करना।

(३) काम विनय : वासनार्थे स्व-पर स्त्री, वैश्या आदि को अनुकूल करने हेतु विनय करना।

(४) भय विनय : स्वयं से विशेष सामर्थ्यवान का भय रखकर विनय करना।

(५) मोक्ष विनय : कर्म मुक्ति हेतु विनय योग्य आत्माओं का विनय करना।

इसमें लोकोपचार उचितता रूप है। तीन मोहोदय रूप से अहितकर है। एवं मोक्ष विनय आत्मा को सर्व दुःख मुक्त करने से आत्मोपकार है।

मोक्ष विनय के भी पांच प्रकार हैं। (१) दर्शन विनय (२) ज्ञान विनय (३) चारित्र विनय (४) तप विनय इन चारों का आगमोक्त रीति से सेवन करना उनका विनय है। पांचवाँ उपचार विनय तीनों योगों को उचित मार्ग में जोड़ना एवं पूज्य पदों की आशातना न करनी।

इस उपचार विनय में काया का विनय आठ प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का, मानसिक दो प्रकार का है। उसमें काया से पूज्यों के सामने (१) खड़ा रहना (२) हाथ जोड़ना (३) आसन देना (४) आज्ञा पालन (५) वंदन करना (६) विधिपूर्वक सेवा करनी (७) सामने जाना (८) पहुँचाने जाना। वाचा से (१) परिणामें हितकर (२) मिताक्षर (३) सद्भाव पूर्वक (४) नम्रता युक्त विचार पूर्वक बोलना। मन से अकुशल मन का निरोध धर्म-शुक्ल रूप शुभ मन की उदीरणा। यह उपचारविनय, योग्य आत्माओं का कर्म खपाने हेतु छद्मस्थों को करना है। और केवल ज्ञानियों को स्वयं कर्म खपाने हैं अतः अन्य का औचित्य न करने रूप है। अनाशातना रूप उपचार विनय बावन प्रकार से हैं। (१) तीर्थंकर (२) सिद्ध (३) कुल (४) गण (५) संघ (६) क्रिया (७) धर्म (८) ज्ञान (९) ज्ञानी (१०) आचार्य (११) उपाध्याय (१२) स्थीवर (१३) गणी इन तेरह की अनाशातना, बाह्यभक्ति, हार्दिक बहुमान, और उनकी प्रशंसा इन चार-चार प्रकार से करने से बावन प्रकार होते हैं।

उपर दर्शित मोक्ष विनय आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप इन चार में समाधि करवाने रूप है। अर्थात् प्रशस्त अध्यवसाय प्रकट करना उसका कर्तव्य है। अतः विनय अध्ययन में विनय द्वारा समाधि प्राप्त करने का उपदेश है।

मान, क्रोध, माया एवं लोभ विनय घातक कहने से ऐसे दोष युक्त व्यक्ति गुरु के पास आसेवन शिक्षा ले न सकने से निर्धन सम गुण में दरिद्री रहता है। गुणाभाव से जीवन निष्फल बनता है। जैसे वांस को फल आवे तब उसका नाश होता है वैसे जीव में प्रकटित दोष, भाव प्राणों का नाश करता है। मानी विनय न करे तब गुरु सारणा-वारणादि करे तब क्रोधोत्पत्ति होती है। फिर विनय न करने के बचाव में माया सेवन करे,

विनय के अभाव में निद्रा विकथादि प्रमाद होता है। गृहस्थ को धन संपत्ति समान साधु को गुण संपत्ति यही वास्तविक धन है। विनय के अभाव में साधु दरिद्र रहता है। और वह गुणहीनता (उपलक्षण से अवगुण ही) उसके जन्म को निष्फल बनाती है। अतः आत्मार्थी को गुरु के आगे मान छोड़कर विनय करना चाहिए।

किसी अल्प बुद्धिवाले व्यक्ति को भी सौभाग्यादि विशिष्ट गुणों के कारण आचार्य ने पदासीन किये हो, अन्य योग्य साधु के अभाव में या दूसरे किसी कारण से आयु में छोटे या अल्प श्रुतवाले को आचार्य पद दिया हो। उनको कोइ अभिमानी क्षुद्र साधु 'हे बुद्धिमान! हे वयोवृद्ध! हे बहुश्रुत!' आदि शब्द कहकर हास्य करे अथवा हे मंदबुद्धि! हे बाल! हे अज्ञ! आदि कहकर अपमान करे तो गुरु की घोर आशातना से उसका भवभ्रमण बढ़ जाता है। अल्प पर वास्तविक गुण वाला व्यक्ति कभी किसी का अपमान निन्दा आदि नहीं करता। किसी अयोग्य को देखकर भी कर्म विपाक का ज्ञाता उसकी भावदया का चिंतन करता है। जिसे अयोग्य खटक रहा है वह स्वयं अयोग्य है। अतः आत्मार्थी को किसी का अपमान निंदा, अवहेलना आदि नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने का विचार आवे तो अपनी दुष्टता समझनी।

ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमानुसार एवं सदाचार मोहनीय कर्म के क्षयोपशमानुसार प्रकट होते हैं। उसका उम्र के साथ संबंध नहीं है। जो कि मति श्रुतज्ञान इंद्रिय जन्य होने से इंद्रियों का बल आवश्यक है, फिर भी मुख्यता से ज्ञान आत्मिक गुण होने से क्षयोपशम के प्रमाण में प्रकट होता है। इस कारण से वय अधिक, शरीर शक्तिमान होने पर भी क्षयोपशम मंद होने से ज्ञान अल्प और वय कम एवं शरीर निर्बल होने पर भी क्षयोपशम तीव्र हो तो ज्ञान अधिक हो सकता है। सदाचार का ज्ञान के साथ संबंध होने पर भी मोहनीय कर्म का क्षयोपशम विशिष्ट होने से विषय कषायों की मंदता के कारण किसी में अल्प किसी में विशेष भी होता है। अतः वय में अल्प या ज्ञान में अल्प पर कोई चारित्र गुण की विशिष्टता के कारण से आचार्य पद के योग्य होने से आचार्य बने तो उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। ऐसा उत्तम साधु समझता है। इतना ही नहीं आचार्य उत्तम होने से किसी का अहित न करे पर उनकी आशातना करनेवाला स्वयं आशातना जन्य पाप कर्म से भी स्वयं के ज्ञानादिगुणों को जलाकर भस्मसात करता है। अग्नि से खेलनेवाला स्वयं के दोष जलाता है। अग्नि में 'मैं इसे जला दूँ' ऐसी बुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार उत्तम पुरुष किसी अपराधी का अहित नहीं करते फिर भी अपराध करनेवाले की हानि होती है। वैसे आचार्य की आशातना करनेवाला स्वयं गुण भ्रष्ट होता है। ऐसा समझकर आशातना नहीं करता।

प्रकट अग्नि आदि से द्रव्य प्राणों का नाश वैसे गुरु आशातना से सम्यग्ज्ञानादि

भाव प्राणों का नाश होता है पर गुरु का अहित नहीं होता।

अग्नि, सर्प एवं विष के परिणामों से बचने का उपाय जगत में है। पर लोकोत्तर अपराधों के परिणामों से बचने का उपाय नहीं है। सर्व सत्ताओं से शक्तिशाली कर्म सत्ता अदृश्यता पूर्वक ऐसा संचालन कर रही है कि उस की कैद में से कोई छूटने-छोड़ने में समर्थ नहीं है। **जिन आज्ञा पालन रूप धर्म ही कर्म सत्ता से छुड़ा सकती है।** अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि धर्म सत्ता से विमुख जीवों को कर्मसत्ता अपने बल से दबाकर कर्मसत्ता के वफादार बनाती है। इस हेतु इस कर्म से भयभीतों को धर्म का शरण स्वीकार किये बीना सुखी होने का कोई उपाय नहीं है। ऐसा जिनेश्वरों ने भारपूर्वक जाहेर किया है। धर्म-कर्म का अवहेलक कभी सुख नहीं पा सकता। कभी जीवन सामग्री के संयोग रूप आपात मधुर सुख मिल जाय तो भी वे भविष्य में विशेष दुःखी बनावे। इसीलिए ज्ञानियों ने 'संजोग मुला जीवेण, पत्ता दुक्ख परंपरा' ऐसा कहा है। गुरु का विनय भी अहितकर सभी संयोगों में से छूटने हेतु ही आवश्यक है। उसके विपरीत आशातना करे तो दुःखी होता है। ये स्पष्ट समज में आवे वैसी निश्चित सत्य हकिकत है।

शक्ति अर्थात् भाले जैसा तीक्ष्ण अणीदार शस्त्र समझना, उसको हाथ से प्रहार करने से हाथ वींधता है। मस्तक से पर्वत तोड़े तो मस्तक फूटता है, सोया सिंह जगानेवाले को खा जाता है। वैसे गुरु की आशातना से गुरु का अहित न हो पर आशातना करनेवाले का अवश्य अहित होता है।

कहा है '**ध्यान मूलं गुरोमूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदौ। मन्त्र मूलं गुरो वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा।**' गुरु की आकृति का ध्यान सर्व श्रेष्ठ ध्यान, गुरु चरण की पूजा सर्व श्रेष्ठ पूजा, गुरु आज्ञा सर्व मंत्रों में श्रेष्ठ मंत्र एवं गुरु कृपा मोक्ष का मूल है। अर्थात मोक्षार्थी को सर्व प्रथम गुरु कृपा प्राप्त करनी चाहिए। कारण कि उसके बिना छोटा-बड़ा कोई गुण प्रकट नहीं होता अगर प्रकट हो जाय तो आत्म हित न कर सके (गुरु कृपा के बिना चाहे जैसा ज्ञानी, क्रियावान भी प्रशमभाव आदि समाधि के अंगों को प्राप्त नहीं कर सकता।) और समाधि (सामायिक) बिना मुक्ति कभी नहीं होती। अतः गुरु की प्रसन्नता प्राप्त करने हेतु वर्तन करना चाहिए।

देव सेवा करनी, पर अपेक्षा से देव सेवा से भी **गुरु का विनय अधिक करना।** आगमों में कहा है 'तीर्थंकरों से तीर्थ का महात्म्य अधिक है' अर्थात् तीर्थंकर मोक्ष मार्ग दर्शक-तीर्थ प्रवर्तक हैं। एवं **गुरु तीर्थ स्वरूप** होने से अपेक्षा से तारक तो गुरु है। अतः **तीर्थंकरों से भी गुरु का उपकार विशेष है।** तीर्थंकर संस्थापित तीर्थ को सर्व देशों में, सर्व काल में प्रसारित करने वाले चलाने वाले गुरु हैं। देव, गुरु एवं धर्म इन तीन तत्त्वों में 'डेहली दीपक न्याय देव और धर्म की पहचान करानेवाले होने से गुरु अधिक

उपकारी है। जो गुरु को प्रसन्न नहीं कर सकता, वह कभी देव को प्रसन्न नहीं कर सकता। कहा है कि गुर्वाज्ञा विराधक जिनकथित अनुष्ठान करने पर भी जिनाज्ञा पालक नहीं है। अतः गुरु को धर्म का सर्वस्व मानकर विनयपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए।

उपकारी दो प्रकार से हैं। एक अनंतर दूसरा परंपर। जिनका साक्षात् उपकार हो वे अनंतर और परोक्ष उपकार हो वह परंपर कहा जाता है। तीर्थंकरों से लगाकर पूर्व महर्षि परंपर उपकारी एवं संयम शीखानेवाले गुरु साक्षात् उपकारी होने से अनंतर उपकारी हैं। इस प्रकार सभी से निकटतम उपकारी गुरु है। उनके समान दूसरे उपकारी नहीं ऐसा माने।

मात्र ज्ञानादि प्राप्त करने के ध्येय से विनय करनेवाला यथार्थ विनय नहीं कर सकता। कर्म निर्जरा के ध्येय से विनय करनेवाले को निर्जरा होने से गुण तो प्रकट होते हैं और विशेष में मुक्ति भी प्राप्त होती है। अतः सद्गुरु विनय **एक मुक्ति के ध्येय से** करना। इस प्रकार किया हुआ विनय गुरु को प्रसन्न कर सकता है। और ऐसे प्रसन्नता पूर्वक के आशीर्वाद से सभी कार्य सिद्ध होते हैं।

इस उद्देश में विनय को धर्म का मूल बताकर उसके क्रमिक फल बताये हैं। उसके बाद **'रीस करे देता शिखामण भाग्यदशा परवारी'** इस कहावत को चरितार्थ करनेवाली अविनित को होनेवाली हानी बतायी है। उसके बाद तिर्यंच-मनुष्य एवं देवगति में भी जीव विनय-अविनय के कैसे फल का अनुभव करता है वह कहा है। लौकिक विद्या के लिए विविध कष्ट भुगतने पड़तें हैं और विनय करना पड़ता है तो लोकोत्तर विद्या (ज्ञान-क्रिया) प्राप्त करने हेतु गुरु विनय अवश्य करना ही होगा। ऐसा विधानकर विनय करने की रीत एवं अविनय हो जाय तो गुरु से शीघ्र क्षमापना करने का कहा है। उत्तम आत्मा प्रकृति से विनित होने से वह विनय को समझता है एवं करता है। इससे विपरीत बहुलकर्मी, मूढ़ बार-बार प्रेरणा करने पर भी नहीं करता अगर करे तो भी अप्रसन्न रहता है। इत्यादि उत्तम अधम जीव अंतर बताया है। प्रान्ते विनीत का अवश्य मोक्ष होता है। अतः विनय करना चाहिए ऐसा कहकर दूसरा उद्देशा पूर्ण किया है।

वस्तुतः गुण मात्र आत्मा के स्वभाव रूप होने से आत्मा में प्रकट होते हैं, बाहर से प्राप्त नहीं हो सकते। मात्र उन-उन गुणों को आच्छादन करनेवाले आवारक कर्मों का नाश करने की जरूरत है। वह वैसे-वैसे गुण वाले उत्तम पुरुष की सेवा करनी आदि रूप विनय से नाश होते हैं। अतः विनय करने की आवश्यकता है।

गुरु शय्या से कम मूल्यवाली शय्या उपयोग में लेनी। नीचे भूमि पर बिछाइ हुई और प्रमाण में न्यून हो वह शय्या नीचे समझना। गुरु के साथ चलने में गुरु से विशेष दूर न चलकर शीघ्रता किये बिना पीछे-पीछे चलना वह गति-चाल (नीचे) मंद कही है।

गुरु खड़े हो उससे नीचे के भाग में खड़े रहना वह निम्न स्थान जानना। और किसी कारण से पाट पाटले पर बैठना पड़े तो गुरु ने वापरे हुए आसन पर आदेश से बैठना वह आसन नीचे जानना। वंदन करते समय मस्तक एवं हृदय को नमाकर सन्मानपूर्वक वंदन करना वह नम्र वंदन करना वह नम्र वंदन समझना और प्रश्नादि पूछते समय शरीर को नमाकर दो हाथ जोड़कर अंजली करनी अभिमान अक्कड़ता छोड़नी। वह नम्र अंजली समजना। ऐसे विविध प्रकार से काया से विनय करना।

वस्तुतः आत्मा को हानि या लाभ की दृढ़ प्रतिति न हो तब हानि से बचने का एवं लाभ प्राप्ति का पूर्ण उद्यम नहीं होता। अतः अविनय एवं विनय का फल यथार्थ जाने वही दोनों प्रकार की शिक्षा को पा सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि **अविनय का भय एवं विनय का आदर** जिसमें प्रकटित हुआ वह **विनय कर सकेगा**, अविनय से बच सकेगा एवं ज्ञान-क्रिया प्राप्त कर सकेगा।

पूज्य को पूजने से पूजक भी पूज्य बनता है। इस वाक्य के अनुसार आचार्यादि का विनय करनेवाला भी क्रमशः प्रकटित विविध गुणों के योग से पूज्य बनता है। विनय द्वारा जैसे कर्मभार कम होता है वैसे-वैसे कठिन पर विशिष्ट जीवन चर्यापूर्वक सहजता से जीवन जीया जाता है। जब तक जीवन में वास्तविक विनय प्रकट नहीं हुआ है तब तक ही विषय-कषाय आत्मा को संताप उत्पन्न कर सकते हैं। कहा है कि निर्मल-शीतल और मधुर जल भी नीम आदि के संयोग से कटु बनता है. जीवन का आधारभूत दूध भी सर्प के मुख में जाने पर प्राण नाशक विष बन जाता है, निर्मल श्रुतज्ञान जैसी **उत्तमोत्तम संपत्ति भी दूराचारी को मिल जाय तो अपकीर्ति को प्राप्त होती है**, कलंकित होती है **एक विनय ही ऐसा विशिष्ट गुण है** जिससे दुर्जन जैसे कुपात्र भी सुपात्र बनकर अनेक आत्माओं के लिए पूजक भूषण बन जाते हैं। अथाग लक्ष्मी से जो काम न हो वह विनय से बिना प्रयास किये सिद्ध होते हैं। बल, बुद्धि या दूसरी शक्तियाँ जो काम सिद्ध न कर सके वह काम एक विनय से सिद्ध हो सकता है। और विनय द्वारा ही आत्मा पूज्यों का पूजक बनता है।

गुरु के आशय को समझकर बिना प्रेरणा से स्वयं विनय करनेवाला उत्तमोत्तम स्वयं का हित समझकर करनेवाला उत्तम, फरज समझकर करनेवाला मध्यम, अनादरपूर्वक जैसे-तैसे करनेवाला अधम, और कटु शब्द कहकर विनय करनेवाला अधमाधम समझना। एक ही प्रकार का विनय करते हुए भी आशय भेद से उसका फल भिन्न मिलता है। अतः आत्मार्थी को स्वयं **गुरु के चित्त को पहचानकर** स्व कल्याणार्थ उनका विनय प्रसन्न चित्त से करना चाहिए।

शारीरिक कष्ट सहन से भी दुर्भावना से कथित वचन अति दुःसह्य है। इसी

कारण गुर्वादि के प्रेरणात्मक शब्द हितकर भी प्रायः मनुष्य नहीं सुन सकता। जो प्रसन्नतापूर्वक सुनता है वह मान विजयी विनीत शिष्य बनकर जगत में स्वयं पूज्य बनता है। प्रसन्नतापूर्वक सुननेवाला ही प्रेम से उस अनुसार आचरण करेगा।

निश्चय नय से पाखंडी, धर्मद्रोही, और निन्हवादि की भी निन्दा तिरस्कार करना साधु का धर्म नहीं है। व्यवहार से ऐसा करना पड़े तो स्व-पर हित के परिणाम रखना। **दूसरों की निन्दा-तिरस्कार करने का सामनेवाले के दोषों से नहीं पर मान-क्रोधादि स्वयं में रहे दोषों से होता है।** ऐसा करनेवाला स्वयं दोषों से कर्म बंधनकर भारयुक्त बनता है। और सामनेवाले का हित नहीं कर सकता। इस कारण किसी को कटु कहना पड़े तो भी अभिमान या क्रोधादि दोषों से पर रहकर सामनेवाले की हित बुद्धि से कहना, यह साधु का धर्म है। एक बार दोष कहने रूप हीलना बार-बार दोष कहने रूप खिंसा समझनी। इनके कारणभूत क्रोध एवं मान होने से उसको भी छोड़ने चाहिए। कारण कि मूल कारण को छोड़े बिना उसमें से प्रकट होने वाले दोषों से बच नहीं सकते।

शिष्य को विनय करने का एवं गुरु को योग्य शिष्य को गीतार्थ बनाकर योग्य पद पर स्थापन करने का धर्म है। ऐसा गुरु-शिष्य का योग हितकर एवं परिणाम में मोक्ष साधक बनता है। तपस्वी, जितेन्द्रिय एवं सत्य का रागी ऐसे विशेषण शिष्य की योग्यता के सूचक है अर्थात् इन गुणों से उसे गुरु योग्य पद पर स्थापन करता है और वे पूज्य बनता है उसमें भी वे गुण हेतुभूत है। अतः विनीत साधु को वे गुण प्राप्त करने हेतु बद्धलक्ष्य बनना चाहिए।

गुरु के हितोपदेशक वचन ऐसा अगम्य उपकार करते हैं कि श्रोता प्रारंभ में तो उसे समज नहीं सकता। उन वचनों को सुनने एवं आचरने में जितना आदर अधिक उतना लाभ अधिक और शीघ्र होता है। महाव्रतों का भार उठाने की शक्ति प्रकट करनी, मनोगुप्ति द्वारा मन पर विजय प्राप्त करना, कषाय विजय, आदि दुष्कर-दुष्कर कार्य भी गुर्वाज्ञा के आधीन रहा हुआ कर सकता है और अनादि काल से घरकर रहे हुए भयंकर दोष भी दूर होते हैं।

मनुष्य जन्म में ही विनय शक्य है। ऐसा विनयवंत उत्तम साधु उत्तरोत्तर व्यवहार कुशल बनकर बाह्य औचित्य का पालन अखंड रूप से करता है। यह बाह्य औचित्य रूप शुद्ध व्यवहार के योग से आत्मा में समाधि का - समता सामायिक का (निश्चय का) बल बढ़ता जाता है। और परिणाम में सामायिक चारित्र में से यथाख्यात चारित्र को प्राप्त वह सर्वकर्म क्षयकर अजरामर पद प्राप्त करता है। अभिगम कुशल विशेषण का अर्थ आगम में प्रवीण साधु लोक व्यवहार सम लोकोत्तर व्यवहार में भी कुशल होता है।

वर्तमान में प्रति दिन जड़ के रंग में निमग्न बन रही दुनिया में आत्म रक्षा दुर्लभ

हो रही है, जैनतर एवं कुल से जैन भी आत्मा को भूल रहे हैं। ऐसे कठिन काल में साधु धर्म का निरतिचार पालन करने हेतु यह अध्ययन परम आलंबन भूत है। त्याग उच्च कोटि का होते हुए भी हृदय वैराग्य वासित न बने तब तक त्याग के आनंद का अनुभव नहीं हो सकता। त्याग वैराग्य को प्रकटित करता है और वैराग्य में त्याग का आनंद होता है। इस प्रकार दोनों परस्पर सहकृत बनकर आत्मा को परमोच्च दशा पर पहूँचाते हैं। ऐसी दोनों की अखंड एवं कठिन आराधना गुरु की छाया के बिना शक्य नहीं है। विद्या साधन में उत्तर साधक की जितनी जरूरत है उससे हजारों गुनी जरूर त्याग-**वैराग्य की साधना हेतु गुरु की है**। कोई स्वच्छंदी तथाविध योग्यता के बिना स्वयं साधना करनी चाहे तो ऐसी विषम परिस्थिति में आ जाय कि जिसका वर्णन करना दुष्कर है। इसी कारण ही मुमुक्षु को गुर्वाज्ञा शिरसावन्द्यकर उनकी निश्रा में रहकर समर्पित भाव से साधुता को आत्म सात करने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मार्थी ज्ञान-क्रिया उभय के संयोग से गुर्वाज्ञा को जीवन में उतारने हेतु यथाशक्य प्रयत्न करें।

संयम को स्वीकार करने हेतु शास्त्रोक्त योग्यता के बिना संयम स्वीकृत करनेवाला प्रायः जिनवचन के पालन में प्रसन्न नहीं रह सकता। पांच महाव्रतों के पालन हेतु कष्ट सहन का सत्त्व, विषय विराग, आदि योग्यता युक्त आत्मा (व्यापारी कष्ट सहन करने पर भी लाभ को देखकर आनंदानुभव करता है वैसे) संयम के कष्ट सहनकर भी आत्म स्वरूप की प्राप्ति से आनंदानुभव करता है। अर्थात् आज्ञानुसार चारित्र की योग्यता को प्राप्तकर दीक्षित बनना ही योग्य है। इस प्रकार दीक्षित आत्मा भी पीछे से प्रमादी बन जावे तो दीक्षा निरर्थक बना दे। अतः जिनाज्ञा पालन में नित्य प्रसन्न रहना। ऐसा भी आत्मा दूसरी ओर से दोष सेवन करे तो दीक्षा निरर्थक हो जावे। अतः स्त्री के वशीभूत न होना अर्थात् वमन किये हुए भोगों का पुनः उपभोग न करना।

जिन वचन प्रति श्रद्धा से प्रकटित दया, व्रत पालन, इंद्रिय जय आदि साधुता के आवश्यक अंग जिसमें प्रकट हो वह भाव साधु कहा जाता है। सभी जीवों को सुख का राग, दुःख का द्वेष, मरण भय, जीवेच्छा आदि समान होने से जीव मात्र स्वतुल्य है 'स्वयं को अप्रिय दुःख दूसरे को न देना' ऐसी समज युक्त मुनि अहिंसादि व्रत पालक, पर पीडा को तजे। महाव्रतों की स्पर्शना अर्थात क्रिया के बल के व्रत पालन नहीं, पर आत्मा को महाव्रत रूप बना दे। अर्थात् भाव से सर्व विरति गुण स्थानक प्रकट करें। ऐसा होने पर भी इंद्रियाँ निरंकुश बने तो सर्वगुण नष्ट हो जावे। अतः प्राप्त गुणों की रक्षा पूर्वक अप्राप्त गुण प्रकट करने हेतु इंद्रिय जय करे वह भाव साधु है।

कषायत्याग से अभ्यंतर, स्वर्णादि के त्याग पूर्वक बाह्य परिग्रह तजकर पूर्वोपाजित कर्म निर्जरार्थ विनय वैयावच्च आदि संयम योगों का सेवन निरंतर करे एवं

भक्त गृहस्थों का प्रतिबंध ममत्व का वर्जन करे, उसको निरतिचार चारित्र पालन से भाव साधु जानना।

सम्यग्दर्शन होने से मूढ़ता दूर होती है, मूढ़ता के अभाव से तत्त्वातत्त्व का विवेक प्रकटित होता है। उससे अतीन्द्रिय पदार्थों में भी हेय-उपादेय का विवेक करनेवाला ज्ञान, कर्मकलिमल धोने हेतु निर्मल जल तुल्य तप और नये कर्मबंध को रोकने रूप संवर आदि गुणों को पहचाने, उनकी महिमा समजे। इस प्रकार ज्ञान चक्षु से हेयोपादेय का विवेककर इंद्रिय संवर से कर्मबंध को रोककर तप से पूर्व संचित कर्म कलिमल को दूर करे। कर्मरहित बनानेवाले साधनों को पहचानकर उपयोग करे वह भाव साधु।

आहारादि में अनासक्त भाव, यह सर्वगुणों का बीज है। विनय वही कर सकता है। जिसने आहार संज्ञा एवं रस संज्ञा पर विजय पाया है। इस कारण से मुनि को **कुक्षि संबल** कहा है। **जल भी निष्प्रयोजन लाने एवं रखने को संनिधि** दोष कहा है। गृहस्थ ने संयमार्थे दिये हुए आहार में अनासक्त भाव रखने वाला एवं संनिधि दोष का सेवन न करने वाला भाव साधु जानना।

काया से परीषहों का पराभव करने का आशय यह है कि मन से आर्त्तध्यान न करे, वचन से दीनता न करे, फिर भी काया से सहन न करे तो परीषह विजय नहीं होता। अतः काया से भी कष्ट सहनकर परीषहों को जीतने वाला संसार से पार होता है। ऐसा तभी बनता है **जब जन्म-मरण का तीव्र** भय प्रकट हुआ हो। इसलिए प्रारंभ में कष्टकारी प्रांते सर्व कष्टों से दूर करानेवाले तप का आदरपूर्वक सेवन करे। साधुता योग्य प्रायश्चित विनयादि अभ्यंतर तप के साथ यथाशक्ति बाह्यतप भी करना। शक्ति उपरांत तप करने का एवं तपस्वी रूप में यश प्राप्ति के लिए तप का आगमों में निषेध किया है। **अतः कर्म निर्जरार्थ गुप्त तप करे वह भाव साधु।** हाथ-पैर को काचबे के समान संकोचकर रखनेवाला, और कारण होने पर जयणा से कार्यकर्ता हाथ पैर का संयमी। अहितकर वचन पर अंकुश के कारण हितकर भाषक वाक्संयमी, विषयों से इंद्रियों को रोकने वाला इंद्रिय संयमी, धर्म-शुक्ल ध्यान में रमणता करने वाला अध्यात्मरक्त, आत्मिक गुण में रमणता करनेवाला आत्म समाधि युक्त, आगमोक्त कथनानुसार गुर्वादि का विनयकर अध्येता वह सम्यक् सूत्र-अर्थ (उभय) का ज्ञाता। हाथ-पैर के संयम से काय योग का, वचन संयम से वचन योग का और अध्यात्म रक्त आत्म समाधि और सूत्रार्थ का ज्ञाता आदि से मनोयोग का संयम समझना ऐसे तीनों योगों के संयम साधक को भाव साधु जानना।

संयम पालन में वाह-वाह लब्धियाँ या मान-सन्मान आदि प्राप्त करने का ध्येय संसार वर्द्धक होने से छोड़े, ज्ञानादि में रमणतावान ही जड़वृतियों को दूर कर, अध्यात्म

भाव में रह सकता है और ये सभी गुण होने पर भी होवे तो सभी गुणों का नाश होवे अतः मायारहित हो वह भाव साधु जानना।

परनिन्दा एवं आत्मश्लाघा करने से जीव नीच गोत्र, दुर्भाग्य, अपयश, अशाता, आदि पाप कर्म का बंध करता है। उपरांत पर निंदा से ज्ञानावरणीयादि घाती कर्मो का बंध भी होता है। परिणाम में भवभ्रमण वृद्धि एवं बोधि दुर्लभ बनता है। जिनशासन से भ्रष्ट होता है। अतः किसी को अप्रिय लगे वैसा न बोले। 'पर साधु को कुशील कहने के निषेध में रहस्य यह है कि स्वनिश्रा के साधु को ज्ञानक्रिया के शिक्षण हेतु गुर्वादि प्रधान साधु कटु वचन भी कहने के अधिकारी हैं। निंदा का आशय न होने से हितबुद्धि होने से अशुभ कर्म बंध नहीं होता। हा, बिना कारण या ईर्षा भाव से स्व साधु को भी अप्रिय वचन नहीं कहना। स्व प्रशंसा स्वयं करे यह तो बडा दोष है। दूसरों के मुख से भी स्वयं की प्रशंसा न सुने वह साधु स्वमुख से स्वप्रशंसा कैसे करे? अर्थात् उत्तम साधु कभी भी स्वप्रशंसा न करे।

कोई भी संपत्ति या गुणों को प्राप्तकर उसका मद करने से भविष्य में वे भाव नहीं मिलते। वर्तमान में भी उसके दुरूपयोग से लाभ नहीं होता और प्रायः चले जाते हैं। स्वयं को उच्च मानने से उंच्चे जाने का लक्ष्य अटक जाता है। और अभिमान रूप दुर्गुण के भार से दबा हुआ आत्मा नीचे उतरता है, अयोग्य बनता है। अतः उत्तम साधु, उत्तम कुल-जाति, रूप-बल आदि पुण्य से प्राप्त पर नाशवंत एवं पर समजकर मद नहीं करता है और तप, श्रुत, लाभ आदि भी उन-उन आवरणों के क्षयोपशम से प्रकटित हैं। सत्ता से सभी में वे गुण हैं। ऐसा समझकर अभिमान नहीं करता। क्षमा-नम्रता आदि आत्म गुणों में रमणता रूप धर्म ध्यान में रक्त रहता है। ऐसा साधु ही स्वपर उपकार कर सकता है। वही उत्तम साधु है।

वर्तमान में काल-संघयण-बुद्धि सद्गुरु संयोग आदि की अल्पता के कारण सूत्रोक्त गुण प्रकट न हो सके फिर भी लक्ष्य-ध्येय उच्च रखने से विघ्नभूत कर्मो का क्षयोपशम होता है। आराधना का अभिमान न हो, पूर्व महर्षियों के चारित्र प्रति मान अखंड रहे उनका विनय हो और विनय से स्व योग्यता में वृद्धि होती है। किसी भी प्रकार के गुण या पदार्थ की प्राप्ति हेतु वैसी योग्यता प्रकट करनी आवश्यक है। पदार्थ या गुण को प्राप्त करने का यही सच्चा उपाय है। दूसरी बात यह भी समझने की है कि अवसर्पिणी काल के अभाव से उत्तरोत्तर शुभ भाव की अल्पता एवं अशुभ भाव की वृद्धि यह अनिवार्य है इससे उस-उस काल एवं उस-उस क्षेत्र में जो-जो महात्मा संयम के खपी हैं, संयम के इच्छुक हैं वे निरुपाये अपवाद सेवन करते हो उनको सुसाधु के रूप में वन्दनीय-पूजनीय एवं माननीय कहा है। ऐसे साधुओं से ही प्रभु का शासन

चलनेवाला है और उनकी सेवा से आत्महित साधने का है। अतः आत्मार्थी को स्वयं के काल में जो-जो विशिष्ट गुणवंत हो उनका विनयादिकर स्वहित की साधना करनी। तभी तो उपा. श्री यशोविजयजी ने गाया है 'संयम खप करता मुनि नमिये, देश काल अनुमाने रे।'

आगमों में जिन्हें मूल गुण विराधक कहा है वे और वर्तमान में निःसंकोचता पूर्वक टी.वी वीडियो के स्वयं भाव निश्चितकर उतरवाने वाले और गृहस्थों के घर की टी.वी. वीडियो देखनेवाले, साध्वी, कुमारि का विधवादि स्त्री या नीच जाति की स्त्री के साथ क्रीड़ा करनेवाले, स्व नामना की आड़ में मंदिरोपाश्रय के नवनिर्माण हेतु टीप मंडवाने वाले, बिना पगार के मुनिम बनकर निगराणी रखनेवाले, दूसरों से लेख पुस्तकादि लिखवाकर स्वयं के नाम से छपवानेवाले, शक्ति होते हुए मजदूर एवं थेला गाड़ियों को साथ में रखनेवाले, शास्त्रों का विपरीत अर्थघटनकर नये-नये पंथों का प्रचार करनेवाले, शुद्ध साध्वाचार के प्रचारकों के प्रति द्वेषभाव लाकर उन पर मंत्र-तंत्रादि का प्रयोग करनेवाले, लाईट, लेट्रीन का उपयोग अनिवार्य है ऐसा उपदेश देनेवाले, आगम विरुद्ध अनुष्ठानों को आगम सम्मत अनुष्ठान की प्ररूपणा करनेवाले इत्यादि लक्षण युक्त मुनिवेश विडंबक अवंदनीय है।

इन्द्र स्वयं इन्द्रासन से भ्रष्ट होने के बाद जैसे स्थान-स्थान पर विविध कष्टों को पाता है वैसे संयम से भ्रष्ट साधु क्षमादि श्रमणधर्म से एवं मान-सन्मानादि लौकिक सुखों से भी भ्रष्ट होता है। सीढ़ी का एक पगथियाँ चुकनेवाला जमीन पर गिरता है वैसे एक प्रतिज्ञा से भ्रष्ट सभी प्रतिज्ञाओं से भ्रष्ट होता है। जब उसके कटु फल अपमानादि भोगने पड़ते हैं तब संयम की किंमत समज में आती है। बाद में संयमावस्था को याद कर-कर झूरना पड़ता है। गृहस्थाश्रम में शांतता नहीं रहती।

मच्छीमार माछले पकड़ने सुतर की दोरी की जाल से गुंफित लोखंड के अणीदार कांटों में मांस के टुकड़ों को पिरोता है। उसे खाने की लालच से मछली आदि जीव मांस को मुख में लेकर मुख बंध करती हैं तब लोखंड के कांटे से गला कट जाने से जा नहीं सकते और माछीमार के फंदे में फंसकर प्राण गुमाते हैं। वैसे वृद्धावस्था में भोग-त्याग दोनों के लिए अयोग्य बना वह घर बंधनों में फंसकर आर्त्त-रौद्रध्यान पूर्वक मरकर दुर्गीति में जाता है। अर्थात् वृद्धावस्था के दुःख भोगते समय संयम के सुखों को याद कर-कर के झूरता है। भोग या त्याग एक की भी साधना नहीं कर सकता और स्वार्थी कुटुंबीजनों के अपमान, अनादर, तिरस्कार आदि से जीवनपर्यंत दुःखी होता है।

श्रमणता का आनंद आत्म स्वरूप होने से निरुपाधिक है और देवलोक का आनंद संयोगजन्य होने से उपाधिरूप तुच्छ कृत्रिम होता है। शास्त्रों में संयम पालन से

निर्मिल बनते आत्मा के आनंद का प्रमाण बताते हुए कहा है 'एक महिने पर्यायवाले का आनंद वाणव्यंतर देवों के आनंद से भी अधिक होता है। दो मास पर्यायवाले का असुर कुमार निकाय के देवों से अधिक वैसे तीन मासवाले का शेष भवनपति देव से, चार महिनेवाले का ग्रह आदिज्योतिष देव से, पांच महिनेवाले का चन्द्र सूर्य से, छ महिनेवाले का सौधर्म ईशान कल्प देव से, सात महिने सनत्माहेन्द्र देव से, आठ महिने पांचवे-छट्ठे देवलोक से, नव मासवाले का सातवें-आठवें देवलोक से, दश महिनेवाले का आनतादि चार देवलोक से, ग्यारह मासवाले का नव ग्रैवेयक वासी देव से, और बारह महिने के पर्याय से अनुत्तर विमानवासी देवों के आनंद से भी अधिक आनंद होता है।' उसके बाद पर्याय बढ़ने से जैसे-जैसे आत्म शुद्धि बढ़ती है, वैसे-वैसे शुक्ल अखंड चारित्र, अमात्सर्य, कृतज्ञता आदि गुण युक्त होकर 'शुक्लाभिजात्य' यानि परम निर्मल बना हुआ सुख को पाता है। संयोगिक सुख परिणाम में वियोगजन्य दुःख में परिणमते हैं और स्वाभाविक सुख शाश्वत बनता है। अतः दैवीसुख की उपमा संयम सुख को घटित नहीं होती। फिर भी संयम सुख का महत्त्व समजाने हेतु दूसरी उपमाओं के अभाव में दैवी सुखों के साथ तुलना की है। जैसे नाटक, गीत, वाजिंत्रादि के सुखोपभोग में देव अदीन मनवाले होते हैं वैसे प्रतिक्रमण-पड़िलेहण-स्वाध्याय-विनय, वैयावच्च तप-जप ध्यानादि कार्यों में शांतरस का आस्वाद लेते साधु प्रसन्नता के अतूल आनंद का अनुभव करते हैं। हास्य-श्रृंगारादि सभी रसों के आनंद से बढ़ जाय वैसा आनंद शांतरस का होता है और साधु की सभी क्रिया शांतरस में परिणत होने से श्रमणपने की तुलना में एक भी आनंद नहीं आ सकता।

चारित्र पर्याय के पालन में और त्याग में भावी सुख-दुःख का विचारकर जो निर्मल चारित्र पाले वही सच्चा पंडित-शास्त्रार्थ का ज्ञाता है। वही सुखी है।

यज्ञ की शांत अग्नि को जैसे लोक पैरों तले कुचलते हैं और निर्विष सर्प से गारुड़िक खेल कराते हैं वैसे **संयम भ्रष्ट को लोक विविध कष्ट** देते हैं और मूर्ख सम उसे नचाते हैं।

जो मुनि यथाशक्ति उत्तरगुणों के परिपालन पूर्वक पूर्ण रूपेण महाव्रतों के पालन में अपने आपको असमर्थ माने तो जन्म भूमि, दीक्षा भूमि एवं विहार भूमि ये तीनों प्रदेश छोड़कर अन्य स्थानों पर मुनिवेश का त्याग कर श्रावक धर्म की परीपालना करनी हितावह है।

नदी के प्रवाह में बहता काष्ट जैसे समुद्र में पहुँचता है। वैसे विषय सेवन रूपी उन्मार्ग में चढ़ा हुआ, मात्र द्रव्य क्रिया रूपी अनुकूलता के वश बना हुआ और उससे धर्म क्रिया करने पर भी संसार रूपी समुद्र में परिभ्रमण करते अनेक लोकों में कथंचित

विषय विमुखता रूपी संयम लक्ष्य प्राप्त मोक्षार्थी जीव को अनुकूलता रूपी लोक प्रवाह को छोड़कर स्वयं के आत्मा को प्रतिकूलता रूपी सामने के पूर में चलाना अर्थात् अनुकूलता का पक्ष तजकर संयम के विविध कष्टों को प्रसन्नचित्त से स्वीकार करने रूपी प्रतिकूलता का पक्षकर संसार समुद्र से पार उतरना।

अनुकूलता आपात मधुर होने से रुची वैसी होने पर भी परिणाम में कातिल विषसम आत्मा के भाव प्राण रूपी ज्ञानादि गुणों का नाश करती है। और प्रतिकूलता प्रारंभ में कटु दुःख दायी होने पर भी औषध सम परिणाम में जीव को कर्म रोग से मुक्त करती है। फिर भी मूढ़रोगी जैसे औषध का प्रतिपक्षी होता है वैसे अनेक आत्मा मोह मूढ़ होने से प्रतिकूलता से डरते हैं। अनुकूलता के वश होकर कर्मरूपी रोग को बढ़ाते हैं उनका अनुकरण करना किसी भी प्रकार से हितकर नहीं है। उनका अनुकरण छोड़कर परीषह-उपसर्ग आदि कष्ट सहन करने रूपी सामे पूर तरने तुल्य श्री जिनाज्ञा का निरतिचार पालन करना। ऐसे करनेवाले का ही मोक्ष होता है। जो लज्जा और दाक्षिण्यता से भी लोकानुसरण करता है वह संसार में परिभ्रमण करता है। जिनाज्ञा का उल्लंघन कर अन्य का अनुकरण करना। उसमें वस्तुतः लज्जा भी नहीं है और दाक्षिण्यता भी नहीं है।

जैसे जल प्रवाह में तैरने में परिश्रम-कष्ट का अनुभव नहीं होता पर सामने पूर में तैरने में अधिक परिश्रम होता है। वैसे कष्ट से भयभीत अनेक लोग अनादिलोक प्रवाह को अनुसरने में आनंद मानते हैं। विवेकी ऐसे अल्प मुनि भगवंत ही अनुकूलताश्रय से भावी कष्ट के भय से वर्तमान में कष्ट सहन रूपी प्रतिकुलता में आनंदानुभव करते हैं। वे ही संसार से पार होते हैं। कारण कि अनुकूलता संसार मार्ग, प्रतिकूलता मोक्षमार्ग है।

मुख्य मार्ग से विगइ वापरनेवाले को आगम और विगइ के रोगी को छेद सूत्र वांचने-पढ़ने का अधिकार नहीं है। ऐसा आगम वचन है।

गृहस्थ की किसी भी प्रकार की वैयावच्च करने से साधु को अविरति का पोषण, प्रशंसा, अनुमोदना आदि दोष और गृहस्थ को भी गृहवास प्रति राग बढ़े, साधु प्रति सन्मान घटे, सन्मान घटने से दान, वंदन-पूजन करते हुए भी विरति का रागी न बने श्रावक धर्म से भी वह वंचित हो जाय। ऐसे दोनों को विविध दोषोत्पत्ति होती है। अतः उत्तम साधु ऐसा नहीं कर सकता। और ऐसा करनेवाले शिथिल साधुओं के साथ में रहे नहीं। **संग का रंग संयम के रागी साधु को भी भविष्य में निष्ठुर परिणामी बनाकर संयम से दूर कर सकता है।** वर्तमान में प्रायः उत्तम आत्मा भी श्रेष्ठ आलंबन के द्वारा ही विकास कर सकता है। इससे उत्तम गुरु की निश्रा जीवनपर्यंत न छोड़नी चाहिए। उससे

विपरीत शिथिलों के संग रहे तो नियमा मंद परिणामी बनकर संयम भ्रष्ट भी हो जाय। अतः उत्तम गुरु की निश्रा अति आवश्यक है शिथिलाचारी का संगी कदाच शिथिल न बने पर उसे (संवास) अनुमोदना का दोष लगता ही है।

आराधना करनी जितनी आवश्यक है उससे उसकी रक्षा विशेष आवश्यक है। धन कमाने के बाद रक्षण करना न आये तो नाश होता है या चौरादि ले जाते हैं। वैसे धर्म के परिणामों की रक्षा न हो तो अधर्म का पक्ष हो जाय या परिणाम नष्ट हो जाय। अतः आत्मार्थी को समाधि हेतु आत्म दर्शन (निरीक्षण) बार-बार करना चाहिए। उत्तम ध्यान रूपी यह श्रेष्ठ अनुष्ठान है। तप-जप-ध्यान के बाद समाधि प्रकट होती है। यह समाधि वस्तुतः सुखानुभव कराती है। तप करते हुए भी जप न हो, तप-जप के साथ ध्यान न हो तो समाधि प्रकट नहीं होती। अतः भूलें न हो इसलिए आत्मा का ध्यान बार-बार करना चाहिए। शुभ ध्यान से अशुभ परिणाम टिकते नहीं। इससे भविष्य में अशुभ का (असंयम का) अनुबंध नहीं होता। परंपरा नहीं चलती। और शुभानुबंध होने से अन्य जन्मों में भी ऐसा ही शुभ मार्ग प्रिय होता है। उत्तरोत्तर शुभानुबंध से आत्मा सर्वथा शुद्ध कर्मरहित बनता है अतः आत्म निरीक्षण बार-बार करना चाहिए।

जल सम मोहयुक्त जीव की स्वाभाविक गति अनादि काल से नीची बन रही है। पानी को रोकने हेतु पाल बांधनी पड़ती है। वैसे आत्मा को नीचे जाते हुए रोकने हेतु संयम की मर्यादाओं का बंध बांधना आवश्यक है। और बांधे हुए बंध में से पानी को उंचे स्थान पर चढ़ाने हेतु यंत्र या योग्य स्थल पर पहुँचाने हेतु नहेर आदि करनी पड़ती है। उसी प्रकार संयम में वर्तक जीव को भी उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणामी बनाने हेतु सतत आत्मचिंतन रूपी आलंबन की जरूरत है। एक क्षण चिंतन रुकने पर साधक नीचे गिरने लगता है। अतः भगवंत ने श्री गौतम स्वामी को समय मात्र प्रमाद न करने का संदेश दिया है। उसी न्यायानुसार 'आत्मा स्वयं के आत्मा को क्षण-क्षण देखता रहे।' फिर भी प्रमाद हो जाय और परिणाम मंद होने से भूल दूर करने हेतु उच्च परिणाम की आवश्यकता है। वे शुभ परिणाम जाने के बाद इच्छने पर भी भूल नहीं जाती। इतना नहीं वह भूल जितने समय रहे उतनी दृढ़ होती है और बाद में दूर करनी दुष्कर हो जाती है। इस कारण शुभ परिणाम के समय में, आत्म निरीक्षण करते समय भूल समज में आने पर उसे दूर करनी चाहिए। ऐसा करने से भूल की परंपरा रुकती है और परिणाम विशेष शुद्ध होने से शुभानुबंध होता है। आत्म गवेषणा पूर्वक विचारकर हितमार्ग पर चलना। जातिवंत अश्व स्वामी के बलात्कार से नहीं पर स्वयं के उत्तम स्वभाव से ही लगाम को शीघ्र स्वीकारता है। वैसे उत्तम साधु को भी गुर्वादि के आदेश उपदेश की अपेक्षा रखे बिना स्वयं के आत्मा की रक्षा हेतु स्वयं की भूल सुधारनी चाहिए।

MESCO PRINTS
080-22380470